व्रज-भावकी उपासना

हनुमानप्रसाद पोद्दार

व्रज-भावकी उपासना

हनुमानप्रसाद पोद्दार

Vrajbhav Ki Upasana

By

Hanuman Prasad Poddar

प्रकाशक

रसेन्दू पोद्दार

गीतावाटिका प्रकाशन

पो०-गीतावाटिका (गोरखपुर)

पिन-२७३००६

प्रथम संस्करण-श्रीराधाष्टमी सं० २०५६ वि०

मूल्य-पचीस रुपये

श्रीहरि :

नम्र निवेदन

रस–सिद्ध संत भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी गम्भीर साधनाका श्रीगणेश सन् १९१६ ई० में हुआ जब सरकारने राजनितिक गतिविधियोंमें सक्रिय भाग लेनेके कारण उन्हें बंगालके शिमलापाल ग्राममें नजरबन्द किया था। वहाँ करीब पौने दो सालतक इन्हें आध्यात्मिक साहित्यके अनुशीलनका पर्याप्त अवसर मिला। इसी समय उन्होंने नारद–भक्ति–सूत्रोंकी एक बृहद् ब्याख्या लिखी। यह एक विस्मयकी बात है कि उस समय इनकी उम्र २५ वर्षकी थी एवं साधना प्रारम्भ किये थोड़ा ही समय हुआ था। उस समय प्रेमाभक्तिकी ऐसी गहरी सैद्धान्तिक व्याख्या कैसे सम्भव हुयी ? यही ब्याख्या कुछ परिवर्तन–परिवर्द्धनके साथ प्रेम–दर्शन नामसे सन् १९३५ में गीताप्रेससे प्रकाशित हुयी। इस ब्याख्याके प्रकाशनसे देवर्षि नारद इतने प्रसन्न हुये कि सन् १९३६ में महर्षि अंगिराके साथ गीतावाटिकामें पधारकर पावन दर्शन दिये एवं पू० भाईजीके साथ लम्बी वार्ता हुई। यह मिलन याद दिलाता हैं– आदि शंकराचार्यजीके एक जीवन प्रसंगको। मैंने उनकी जीवनीमें पढ़ा है कि जब उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र'का भाष्य लिखा तो उस भाष्यसे महर्षि श्रीवेद व्यासजी इतने प्रसन्न हुये कि जब पू० आदि शंकराचार्यजी उत्तरकाशीमें थे तो वहाँ पधारकर उन्हें दर्शन दिये एवं आर्शीवाद देकर परम प्रेरणा दी। ऐसा ही हुआ भाईजीके साथ।

यद्यपि नारदजी एवं भाईजीमें क्या वार्तालाप हुआ इसका विस्तृत प्रामाणिक विवेचन उपलब्ध नहीं हैं पर उनका भावी जीवन उसका संकेत दे रहा हैं । वृन्दावनकी लीलाओंके दर्शन तो इसके पहले ही होने लग गये थे, पर उनमें प्रवेश इसी समय लगभग प्रारम्भ हुआ। सन् १९३७ में उन्होंने एक अपने अन्तरंग व्यक्तिको संकेत किया कि – लीलामें प्रवेश होता है इसमें मेरी इच्छाकी प्रधानता नहीं होती। जब वे चाहते हैं तब सहसा लीलामें मुझे खींचकर सम्मिलित कर लेते हैं। लगभग सन् १९४० में वृन्दावनमें एक संतको मीराबाईके साक्षात् दर्शन हुये और काफी वार्तालाप हुआ। उनके प्रश्न करने पर मीराबाईने बताया कि 'हनुमानप्रसादका सूक्ष्म शरीर बिलकुल श्री–प्रियाजीका स्वरूप हो गया हैं।' एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि नारदजी से विस्तृत वार्तालापके बाद भी एवं स्वयं इतनी उच्चस्थितिमें आरूढ़ होने पर भी 'प्रेमदर्शन' की व्याख्यामें जरा भी

संशोधन–परिवर्द्धनकी आवश्यकता नहीं हुई, यद्यपि उनके जीवनकालमें 'प्रेम–दर्शन'के बारह संस्करण प्रकाशित हुए।

श्रीनारदजीकी प्रेरणा तथा व्रजभावकी उपासना एवं उपलब्धिका नवनीत है श्रीभाईजीका ग्रन्थ 'श्रीराधा–माधव–चिन्तन' जो सदा व्रजभावके उपासकोंका मार्ग दर्शन करता रहेगा।

भाईजीने अपनी स्थितिको लगभग बीस वर्षोंतक छिपाये रखा। वे तो चाहते थे जीवनपर्यन्त ही छिपाये रखना पर यह उनके प्रियतम श्रीकृष्णको मंजूर नहीं था। जीवनके अन्तिम १०–१२ वर्षोंमें उनकी विलक्षण महाभावमयी स्थिति प्रकट होने लग गयी। भाईजीका अपनी अभिलाषाके अनुरूप पूर्ण प्रयास था कि उनकी वृत्तियाँ जगत्‌के रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌की सेवामें ही लगीं रहें जिससे उनकी महाभावमयी स्थितिका पता किसीको न लगे। पर वृत्तियाँ बलात् पहुँच जाती थी उस लीला राज्यमें। यह एक अद्भुत विवशता थी। किसी संतके जीवनमें ऐसा देखने–सुनने–पढ़नेको नहीं मिला कि जो संघर्षपूर्वक वृत्तियोंको जगत्‌में लगानेका प्रयास करे और वृत्तियाँ बलात् लीला राज्यमें चली जाय। भाईजी शौचालयसे आकर मिट्‌टीसे हाथ धो रहे हैं अथवा 'कल्याण'का गम्भीरतासे संपादन कर रहे हैं या किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिसे रुचि लेकर बात कर रहें हैं पर वृत्तियाँ जागतिक धरातल छोड़कर लीला–सिन्धुमें लीन हो गयी। आँखें खुली हैं पर देखना बन्द है, कानोंसे सुनना बन्द, हाथमें कलम है तो वैसे ही पड़ी है। यह स्थिति १५ मिनटसे लेकर १५–२० घंटे तक बनी रहती थी। इसके प्रत्यक्षदर्शी तो अनेक भाई–बहिन अभी हैं। अस्तु !

इस अवधिमें एक परिवर्तन और हुआ। सन् १६२२ में जब भाईजी बम्बईमें साधनामें संलग्न थे तभी श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दाके कहनेसे सत्संग कराने लग गये थे। यह क्रम रुग्णावस्थाको छोड़कर जीवनपर्यन्त चला। प्रवचनमें कोई एक विषय न रहकर सभी विषयोंका श्रोताओंके प्रश्नानुसार विवेचन होता था। पर अन्तिम १०–१२ वर्षोंमें प्रवचनोंमें अधिकांश प्रेमके स्तरोंका, गोपीभावका, राधाभावका ही विवेचन रहता था। एक बार भाईजी स्वर्गाश्रममें थे। देहरादूनके पास आनन्दमयी माँका जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। पू०माँके अनुरोध पर भाईजी वहाँ पधारे। जब उनके बोलनेका अवसर आया तो वृन्दावनके सुप्रसिद्ध संत पू० हरिबाबाजीने निवेदन किया कि हम तो आपसे गोपी–प्रेमपर ही सुनना चाहते हैं। उस संत–सभामें गोपी–प्रेमपर ही विवेचन हुआ और संत मंत्रमुग्धकी तरह रस लेते रहे। ऐसा ही दूसरा प्रसंग भी स्वर्गाश्रमका ही है। भाईजी प्रवचनके लिये गीताभवनके

हॉलमें पधारे एवं तख्तपर पू० शरणानन्दजी (जिनका प्रवचन अभी शेष ही हुआ था।) के पास बैंठ गये। बहुत लोग प्रतिदिनकी भाँति अपने प्रश्न कागजपर लिखकर भाईजीको देने लगे। वे उन्हें पढ़ने लगे। आवाजके आभाससे पू०शरणानन्दजी समझ गये। उन्होंने हाथ बढ़ाकर सारे कागज भाईजीके हाथसे ले लिये और बोले – भाईजी इन श्रोताओंके प्रश्नोंका अंत तो कभी आयेगा नहीं। इनके प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। आप तो राधा–भावपर बोलिये वह हमें सुननेको कहाँ मिलेगा। इससे भाईजीके विवेचनकी गहनताका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं एक दिन भाईजी स्वयं प्रवचन आरम्भ करनेके पूर्व बोले मनुष्यके मनमें जो बात रहती है वही वाणीमें आती हैं। मैं क्या करूँ कहींसे भी प्रश्नका उत्तर शुरू करता हूँ तो थोड़ी ही देरमें उस एक विषयपर ही पहुँच जाता हूँ। मेरी इस विवशताके लिये आप लोग क्षमा करें। यह मेरी लाचारी है।

'श्रीराधा माधव–चिन्तन'के अतिरिक्त जो व्रजभावकी उपासनाके विषयमें वे प्रवचनोंमें बोले उसीका संकलन इस पुस्तकमें करनेका लघु प्रयास है। उसका कोई अंश भी इसमें आ नहीं सका, यह तो केवल संकेत मात्र है। यदि उनके प्रवचनोंमेंसे व्रज–भावकी उपासना सम्बन्धी सारी सामग्री एकत्रित की जाय तो संभवतः 'श्रीराधामाधव–चिन्तन' जैसा एक ग्रन्थ और तैयार हो सकता है। प्रारम्भमें जो स्वरुप–वर्णन हैं, जिसमें प्रधानतया चरण–चिह्नोंका विस्तृत वर्णन हैं वह प्राचीन हैं पर अभी किसी पुस्तकमें प्रकाशित नहीं हुआ। मेरा अध्ययन व्यापक नहीं है पर कई अध्ययनशील महानुभावोंसे पूछने पर यही जानकारी मिली कि चरण–चिह्नोंका ऐसा सजीव एवं हृदय–स्पर्शी विस्तृत वर्णन हिन्दीमें कहीं पढ़नेमें नहीं आया। इससे भगवान्‌के चरणोंमें मन लगानेकी तो सुविधा है ही साथ–ही–साथ आकर्षण भी बढ़ता है। साथमें कुछ व्रज–भावके उपासकोंके व्यक्तिगत प्रश्नोंके उत्तर जो भाईजीसे एकान्तमें मिले वे भी उन लोगोंके कृपापूर्वक देनेसे सम्मिलित कर लिये हैं।

मेरी ऐसी धारण है कि इस सामग्रीका अध्ययन, मनन, चिन्तन व्रजभावके उपासकोंके लिये प्रेरणास्पद एवं सहायक होनेके साथ ही सभी साधकोंका मार्ग–दर्शन करेगा। संकलनमें कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ एवं ध्यानमें दिलानेपर सुधारनेकी चेष्टा की जायगी।

श्यामसुन्दर दुजारी

विषय–सूची

पृष्ठ संख्या

श्रीहरिः

ब्रज–भावकी उपासना

भगवान्‌के दिव्य श्रीविग्रहके दर्शन

वास्तवमें भगवान्‌के रूपका वर्णन हो नहीं सकता। रूपकी स्मृतिमें मन लगाये बिना तो वर्णन सम्भव नहीं है और मन लग जानेपर वाणी रुक जाती है, फिर वर्णन कौन करे। ऐसी दशामें जो कुछ वर्णन किया जाता है, वह केवल बाह्य होता है। फिर भी इसी बहाने भगवच्चर्चा हो जाती है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। जो तत्त्वज्ञ पुरुष हैं, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌के रूपकी चर्चा बहुत बाह्य मालूम होती है। वे भगवतत्त्वको इससे परे मानते है। असलमें यह बात नहीं है। भगवान्‌के श्रीअंग तत्त्वको साथ लिये हुए हैं, तत्त्वरहित नहीं हैं। अवश्य ही ये तत्त्व पाञ्चभौतिक नहीं हैं। भगवान्‌के अंग और उनका ज्ञान दो वस्तु नहीं है। स्वयं भगवान् ही अंग बने हुए है। हॉ, जिन लोगोंके लिये ये बातें बाह्य हैं, उनके लिये बाह्य ही है ! केवल भक्तोंको ही, जो भगवान्‌के साकार विग्रहका दर्शन करना चाहते हैं, ये बाते रुचिकर प्रतीत होती हैं। ज्ञानमार्गी समझते हैं कि भगवान्‌के भी हाथ–पैर मनुष्यों–जैसे ही हैं। यदि इन्हींमें मन रहा तो हम तत्त्वसे वञ्चित ही रह जायँगे। ऐसे लोग इस वर्णनको सुननेके अधिकारी भी नहीं हैं–यह बात नहीं है, किंतु उनका अधिकार दूसरी तरहका है। इन लोंगोकी दृष्टिमें भगवान्‌के साकार विग्रहकी पूजा–अर्चा करनेवाले मन्द अधिकारी हैं। इसलिये ये बाते उन लोगोके कामकी नहीं हैं, केवल प्रेमियोंके कामकी हैं। ये बातें गोपनीय भी बहुत हैं,सर्वसाधारणके सामने करनेकी नहीं है, क्योंकि सर्वसाधारणको इन्हें सुनकर कोई विशेष लाभ नहीं होता, केवल कौतूहल–निवृत्ति होती है, कहना सुननामात्र होता है। ये तो ध्यान करनेकी चीज हैं। भगवान्‌के श्रीअंगोका ध्यान करनेसे उनकी दया होनेपर दर्शन भी हो सकते हैं। भगवान्‌के साकार विग्रहके दर्शन होते हैं, हो सकते हैं–यह बात बिल्कुल सत्य है, कल्पना नहीं। उनका वह विग्रह शुद्ध,

चिन्मय, नित्य एवं दिव्य है। जिन्हें उस विग्रहके दर्शनकी चाह है और जो उससे लाभ समझते हैं, उन्हींके लिये ये बाते रुचिकर हो सकती हैं, जो इससे ऊपर भी कोई तत्त्व समझते हैं, वे इन बातोंके सुननेके अधिकारी नहीं हैं। असूया–दोषसे रहित होनेकी इसमें प्रथम आवश्यकता है। अर्जुनमें असूया–दोष नहीं है। यह विदित होनेपर ही भगवान्‌ने उनको अपना रहस्य समझाया। इसलिये ये बातें अन्तरंगोंमें ही करनेकी हैं, सबके सामने नहीं।

भगवान्‌के अंगोंमें दो प्रधान हैं– मुखारविन्द और चरणारविन्द ; मुखकी अपेक्षा भी भगवान्‌के चरण भक्तोंको अधिक प्रिय है ; उन्हें देखकर भक्तलोग अघाते ही नहीं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मुख कम प्रिय है। बात यह है कि मुख चरणोंके पीछे आता है, इसलिये भक्तोंको चरणोंकी चाह अधिक होती है। चरणोंकी महिमा बहुत बड़ी है। उसका वर्णन कौन कर सकता है। जिन चरणोंके धोवनने शिवको शिव बना दिया, जो पवित्रोंको भी पवित्र बनानेवाले हैं, उन चरणोंकी महिमा कौन कह सकता है। तीर्थोंका महात्म्य इसीलिये है कि उनपर भगवान्‌के चरण टिके थे। भगवान्‌के श्रीचरणोंसे अंकित भूभागको देखकर ही बूढ़े अक्रूर प्रेम–विभोर होकर रथसे उतर पड़े और लगे उन पद–चिह्नोंपर लोटने। उन पद–चिह्नोंपर लोटनेमें उन्हें भगवान्‌के आलिंगनका सुख मिला। भगवान्‌के उभरे हुए लाल–लाल पद–नखोंका प्रकाश जिसने एक बार भी देख लिया उसके हृदयका अन्धकार सदाके लिये दूर हो गया। उन नखोंमें लाखों चन्द्रमाओंकी द्युति है। उनका प्रकाश कभी घटता–बढ़ता नहीं ; उसमें कहीं नाममात्रको भी कंलककी कालिमा नहीं है। वह सदा एकरस रहता है। चन्द्रमाकी चाँदनी तो कृष्णपक्षमें लुप्त रहती है। और तो और जिस भाग्यवान्‌ने एक बार उन चरणोंका पृथ्वीपर पड़ा हुआ चिह्न भी देख लिया वह मुक्त हो गया।

कई वर्ष पूर्व काशीकी एक बंगाली महिलाको भगवान्‌के चरण–चिह्नोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका छायाचित्र उसके पास अब भी है। एक दिन होलीकी रातमें उसने यह स्वप्न देखा कि भगवान् मानों उससे कह रहे हैं कि मैं फाग खेलना चाहता हूँ। दूसरे दिन उस महिलाने रातके समय मन्दिरमें अपने उपास्यदेवकी मूर्तिके समीप कुछ अबीर एक पात्रमें रखवा दिया दूसरे दिन प्रातःकाल जब मन्दिरके

द्वार खोले गये तो निज मन्दिरमें गुलाल फर्शपर बिखरा हुआ मिला और उसपर छोटे–छोटे चरणचिह्न दिखायी दिये, जिससे यही अनुमान होता था कि रातको वहाँ गुलालसे किसीने फाग खेला है।

भगवान्‌के चरण–तलमें चार प्रधान चिह्न हैं– वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल। पर भक्तोंने इन चिह्नोंकी संख्या समय–समयपर १०८ तक गिनी है। ये चिह्न हमलोगोंकी भाँति रेखाओंकी आकृतिके नहीं है, अपितु ज्यों–के–त्यों दिखायी देते हैं। उदाहरणतः कमलका चिह्न ठीक खिले हुए कमलके आकारका है, जो वास्तविक कमल–सा ही मालूम होता है। उसमें सोलह दल है। भगवान्‌के भिन्न–भिन्न विग्रहोंके चरणगत कमलोंमें वर्ण और दलोंकी संख्यामें अन्तर है। भगवान् श्रीकृष्णके पाद–तलके कमलमें सोलह दल है, उसका रंग ललाई लिये हुए गुलाबी हैं। ये चारों चिह्न पादतलके बीचके गहरे भागके चारों ओर अवस्थित हैं, इन्हींके बीचमें ब्याधने बाण मारा था। एड़ीके ऊपरके भागमें कमल है। उसके उपर वज्र है। कमलके पार्श्वमें अंकुश है और ऊपर ध्वजा है। भगवान्‌के सभी चरण–चिह्न सब समय नहीं दिखायी देते। जो–जो दीखते हैं वे भलीभाँति प्रकाशयुक्त दीखते हैं। उनकी शोभाका वर्णन कुछ नहीं किया जा सकता। लाल रंगपर ये भिन्न–भिन्न वर्णके चिह्न अतीव मनोहर मालूम होते हैं। कहीं हरा, कहीं पीला, कहीं सफेद और कहीं श्याम। ये सब–के–सब रंग एक साथ अलग–अलग मिलकर अलौकिक शोभाको धारण करते हैं। कमलका रंग यों तो लाल है, परंतु उसमें सफेदी, पीलापन और नीलिमा भी है। इन सब रंगोंमेंसे अलग–अलग आभा निकलती है और एक–दूसरेपर पड़ती है। चरणतलोंकी एक अद्भुतता और है। वह यह है कि उनमें सारे लोकालोक तथा देवता दिखायी देते हैं। वे एक ऐसे दर्पण हैं, जिनपर सारे विश्वका प्रतिबिम्ब पड़ता है। भगवान् अखिल विश्वको अपने चरणोंमें लिये हुए घूमते हैं। उनके अंदर इच्छा होने पर शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि सब देवता दिखायी दे सकते हैं। यहाँ किसीके मनमें यह शंका हो सकती है कि यह सब गप क्यों मार रहा है। इसका उत्तर यही है कि जबतक यह वस्तु दृष्टिपथमें नहीं होती तबतक हम लोगोंकी दृष्टिमें यह सब गप ही है। अस्तु ! ये चारों चिह्न इतने उभरे हुए हैं कि भगवान्‌के चरण जिस भूमिपर पड़ते हैं वहाँकी धूलिमें ये चारों चिह्न अवश्य अंकित हो जाते हैं, दूसरे चिह्न नहीं होते।

बंगालमें एक अस्त्र होता है, जिसे दाव कहते हैं। वज्रकी आकृति करीब–करीब दावकी–सी होती है– यद्यपि दावकी आकृति उतनी सुन्दर नहीं होती। वज्र दावकी अपेक्षा अधिक पतला और चमकदार होता है। शेषनागके फणसे भी उसकी आकृति मिलती है, उसका रंग बिल्कुल सफेद है। बिल्कुल सफेद भी आपेक्षिक दृष्टिसे कहा जाता हैं ; क्योंकि बिल्कुल सफेद तो वास्तवमें अवर्ण होता है, वह दिखायी ही नहीं देता। श्वेत वर्णमें भी कोई–न–कोई वर्ण अवश्य मिला रहता है। शिवजीको शास्त्रोंमें कर्पूर–वर्ण कहा गया है, पर उनके वर्णमें भी कुछ ललाई मिली हुई रहती है। हॉ, अन्यकी अपेक्षा वह सर्वथा श्वेत माना गया है। वज्रके वर्णमें भी कुछ ललाई रहती है। इसीके आकारका आश्रय लेकर इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिये दधीचिकी हड्डियोंसे विश्वकर्माके द्वारा प्राकृतिक वज्र बनवाया था। इससे पहले वज्र नहीं था, सो बात नहीं है। हाँ, इससे पहले वह गुप्त था, प्रकाशमें नहीं आया था। वज्र नाम भी पहलेसे मौजूद था। वृत्रासुर भगवान्‌का अनन्य भक्त था। वह अपने इष्टदेवके चरणचिह्नको सामने आते देख कृतार्थ हो गया। उसका अस्त्र वहीं शान्त हो गया। विष्णुका मंत्र कुण्ठित हो गया। अस्तु ! वज्रका वर्ण शिवजीका–सा है। भगवान् शिव ही वज्र बने हुए हैं। जिस प्रकार शिवजीके वर्णमें कुछ–कुछ लालिमा रहती है, उसी प्रकार सूर्यबिम्बके वर्णमें नीलिमा रहती हैं ; क्योंकि वह भगवान् विष्णुका ही अंश है। विष्णुकी बारह आदित्योंमें गणना है। भगवान्‌के ये सभी चिह्न तेजपुंज है। अंकुशका वर्ण श्याम है। उसकी आकृति लौकिक अंकुशकी–सी ही है। ध्वजाका वर्ण पीत है।

यहॉ यह बात समझ लेनेकी है कि संसारमें जो कुछ है सो भगवान्‌के परमधामकी नकल है। यह मानना सरासर भूल है कि भक्तोंने यहॉकी वस्तुओंको देखकर वहॉकी वस्तुओंकी कल्पना कर ली है। यद्यपि यहॉकी वस्तुएँ मायिक हैं, किन्तु नमूना वहींका है। यहॉकी जो विशिष्ट विभूतियॉ हैं उनमें वहॉके नमूनेकी ही विशेषता है। संसारमें नया आविष्कार कुछ नहीं होता। अप्रकाशित वस्तुओंका ही अंशतः प्रकाश होता है। रेडियो पहले नहीं था, सो नही है, पहले वह अप्रकट था, अब प्रकट हो गया। रेडियोसे भी परे न मालूम कितनी शक्तियॉ हैं जो इस समय अप्रकट हैं और रेडियोंकी ही भॉति कालान्तरमें प्रकट हो सकती हैं। ओषधियोंमें न मालूम कितनी ओषधियॉ अब भी ऐसी हैं जिनके गुण हमें अभी नहीं मालूम हैं।

सृष्टिमें नया बीज कोई नहीं बनता, छिपी हुई वस्तु प्रकट होती है। योगी भी बीज नहीं बना सकता। भगवान्‌के नित्यधामकी ही छाया यहाँ हमें देखनेको मिलती है। आविष्कारकी सारी कल्पनाएँ मूर्तरूपसे वहाँ मौजूद है। भगवान्‌का श्रीविग्रह मनुष्यका-सा होनेपर भी उससे सर्वथा विलक्षण है। प्रकृतिका सारा सौन्दर्य भगवान्‌के विग्रहकी छायामात्र है। जब छायामें इतना सौन्दर्य है तब कायामें कितना होगा, इसका हम अनुमान नहीं कर सकते।

भगवान्‌का नित्यधाम उनके चरणोंमें है। उनके चरण भी नित्य हैं। धाम भी नित्य है और स्वयं भगवान् भी नित्य हैं। धाम उनके चरणोंमें है और वे स्वयं धामके अंदर विराजमान रहते हैं। वास्तवमें उनका धाम और वे एक ही वस्तु हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। नित्यधाम यद्यपि एक-एक हैं तथापि विग्रहके अनुसार उनमें परस्पर भेद है। उन भेदोंमें कोई अंशी और कोई अंश हों सो बात नहीं है। श्रीरामके चरणोंमें साकेतके ही दर्शन हो सकते हैं, श्रीकृष्णके चरणतलमें गोलोकके और श्रीविष्णुके चरणतलमें वैकुण्ठके ही दर्शन हो सकते हैं। यही विशेषता है। जिसने भगवान्‌के चरणोंको पा लिया उसने सब प्रकारके ऐश्वर्य, विभूति, ज्ञान-वैराग्य और मुक्तितकको पा लिया। उनके चरणोंका प्रकाश इनके अनुगत भक्तोंमें उतर आता है। चरणोंकी आवश्यकता सभी भक्तोंको होती हैं और उन्हें प्राप्त करनेका अधिकार भी सभी भक्तोंको होता है। चरणोंसे ही अन्य अंगोंकी भी प्राप्ति हो सकती है। चरणोंको हृदयपर रखनेका अधिकार केवल भगवान्‌की प्रेयसियोंको ही प्राप्त है।

चरणोंकी महिमा कहाँतक कहें, उनका जिन रजःकणोंसे स्पर्श हो जाता है, वे रजःकण दिव्य हो जाते हैं। उन रजःकणोंके स्पर्शसे सारी जड़ता नष्ट हो जाती है— सारी अविद्या, अज्ञान, तप, मोक्षका नाश हो जाता है। उस रजकी तो बात ही क्या है, उस रजके कारण महत्त्वको प्राप्त हुए भक्तोंकी चरण-रजके लिये भी देवतालोग तरसते रहते है। श्रीगोपिकाओंकी चरणरजकी कामना ब्रह्मादि देवताओंने की है। देवता पशु-पक्षी बनकर भगवान्‌की चरणरजमें लोटते हैं। वहाँ प्रकटमें आनेका उनको अधिकार न होनेके कारण वे छिपकर आते हैं और उस धूलिके एक-एक कणके लिये लालायित होते हैं। ज्ञानाभिमानियोंको वह धूलि नहीं मिलती। श्रीमद्भागवतमें इन्हें तुषावघाती अर्थात् भूसी कूटनेवाला कहा

है। जिनके अंदर भगवत्प्रेम खिलनेवाला होता है, जिनका उन चरणोंमें विश्वास हैं, उन भाग्यवानोंको भगवान्‌के किसी अनुगत भक्तकी चरणरज प्राप्त होती है। उस चरणरजकी कहाँतक महिमा कहें। उन कणोंको भगवान्‌के चरणचिह्नोंका स्पर्श मिल जानेसे उनमें आसुरभावोंको मारनेकी शक्ति आ जाती है। अंकुशमें मदोन्मत्त हाथीको वशमें करनेकी शक्ति होती है। अतः उस कणको रजः मस्तकपर छिड़कनेसे मनरूप मस्त हाथी वशमें हो जाता है। कमलके स्पर्शमें आये हुए रजःकणसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है ; क्योंकि कमल ज्ञानका ही स्वरूप है। वज्रके स्पर्शसे आये हुए रजःकणसे पापोंका नाश होता है। ध्वजा विजयकी सूचक है। अतः उसके स्पर्शमें आये हुए रजःकणसे परमसिद्धिरूप विजय प्राप्त होती है। उसके अंदर पाप, विषयों की आसक्ति और अज्ञान नहीं रहता। ये धूलिकण बाह्यरूपमें भी जड़ नहीं रह जाते, कठोर नहीं होते, अपितु ज्योतिर्मय हो जाते हैं। उनका स्पर्श परम शीतल और सुखद होता है। उन्हें छूनेसे ऐसा प्रतीत होता है, मानों किसी चेतन पदार्थसे स्पर्श हुआ हो । भरतको भगवान् श्रीरामकी चरणरजके स्पर्शसे स्वयं भगवान्‌के आंलिगनका बोध हुआ। भगवान् जब पृथ्वीतलपर साक्षात् अवतीर्ण होते हैं, तब उनके साथ ही उनका नित्यधाम भी पृथ्वीतलपर उतर आता है और उनके साथ वापस भी चला जाता है। आजकलकी अयोध्या और आजकलका वृन्दावन वह अयोध्या और वह वृन्दावन नहीं हैं, जो उस समय थे। ये तो उनकी नकलमात्र हैं और पीछेसे साधनाके लिये कल्पित किये गये हैं। अयोध्याको तो भगवान् अपने साथ ही ले गये, ऐसा वर्णन मिलता है। हॉ, उनके साथ इनका स्पर्श होनेके कारण तथा नाम एक होनेके कारण ये भी अति पवित्र हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। भगवान्‌की चरणरजका जिनको स्पर्श हो जाता है, वे धन्य हो जाते हैं, महात्मा बन जाते हैं। जिनको ऐसे महात्माओंकी भी चरणधूलि मिल जाती है, वे भी धन्य हो जाते हैं। भागवतमें लिखा है–'**विना महत्पादरजोऽभिषेकम्**' ऐसे महात्माओंकी चरणधूलिको मस्तकपर छिड़के बिना कल्याण नहीं होता। इससे वास्तवमें भगवान्‌की ही महिमा सूचित होती है। भगवान्‌का नाम भगवान्‌से बड़ा इसलिये है कि वह भगवान्‌का ही नाम है। '**राम न सकहिं नाम गुन गाई।**' इससे वास्तवमें रामकी ही महिमा द्योतित होती है। जिस राजाके पास इतनी सम्पत्ति हो कि उसका स्वयं राजाको भी पता न हो तो वह राजा कितना बड़ा होगा।

इसी प्रकार जिस रामके नाममें इतनी अपार सामर्थ्य है कि स्वयं राम भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। उन रामकी महिमाका क्या ठिकाना है। रामके दासको इसीलिये रामसे बड़ा कहा गया है कि वह रामका दास है। भगवान् अपने अनुगत भक्तके सम्बन्धमें कहते हैं–**अनुब्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः**'–'मैं अपने उन भक्तोंके पीछे–पीछे नित्य–एक–आध रोज नहीं–इसलिये घूमता हूँ कि उनकी चरणरजसे मैं पवित्र हो जाऊँ; जिन भगवान्‌की चरणधूलिको प्राप्त किये हुए भक्तोंकी यह महिमा है, उन भगवान्‌की चरणधूलिकी कितनी महिमा है– इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। भगवान्‌ने भक्त सुदामाके चरणोंको धोकर उनके चरणोदकको स्वयं ही नहीं लिया, अपितु अपनी सारी पटरानियोंको पिलाया और फिर उसे महलभरमें उपर–नीचे सब जगह छिड़कवाया। जिन विष्णुके पादोदकके पान करनेसे मनुष्य पुनर्जन्मसे छूट जाता है, उन विष्णुने स्वयं अपने भक्तके चरणोदकका माहात्म्य बतलानेके लिये ही पान किया। उन्हीं भगवान्‌के चरणोदकका पान करके केवट स्वयं अपने परिवारसहित तर जाय, इसमें तो आश्चर्य ही क्या, उसने अपने पूर्वजोंतकको अपार भवसागरसे पार कर दिया।

भगवान्‌का पद्‌मके साथ बहुत धनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके चरण, कर, नेत्र, नाभि, मुख सभी अंगोंको पद्‌मकी उपमा दी गयी है। उनकी नाभि–कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति मानी गयी है। उनके दिव्य विग्रहका गन्ध भी पद्‌मके गन्ध–सा ही है, यद्यपि वह गन्ध लौकिक पद्‌म–गन्धसे विलक्षण है।

भगवान्‌के चरणका विस्तार चौदह अंगुल माना जाता है। यहॉ यह शंका हो सकती है कि चौदह अंगुल परिणामके चरणतलमें सारा विश्व कैसे समा जाता है। बात यह है कि जब भगवान्‌के संकल्पमें सारी सृष्टि समायी रहती है, फिर उनके चरणमें विश्व रहे, इसमें कौन आश्चर्यकी बात है। यही है योगेश्वरका योग। चरणचिह्नकी संख्या कुछ लोगोंने ३२, कुछने ३६, कुछ लोगोंने ५६, कुछ लोगोंने ६४ और कुछ लोगोंने १०८ मानी है, जिनमेंसे चार प्रधान चिह्नोंका संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका। ये चार चिंह श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु सभी विग्रहोंमें रहते हैं। शेष चिह्नोंमें कुछ आयुध हैं–जैसे धनुष, बाण, असि, बरछी शक्ति, शूल गदा यह चक्र (यह विष्णु भगवान्‌का चिह्न है)। पशुओंमें अश्व, हाथी और हरिन है, नक्षत्रोंमें सूर्य तथा

चन्द्र है, ऋषियोंमें नारद हैं, पुष्पोंमें दिव्य पुष्प, जलचरोंमें मीन, सर्पोंमें शेषनाग, पक्षियोंमें गरुड़, वाहनोंमें रथ, फलोंमें कदम्बका फल, स्वर्गके पदार्थोंमें उर्वशी, कामधेनु और कल्पवृक्ष, पर्वतोंमें सुमेरु, यहाँके वृक्षोंमें अश्वत्थ, राजचिह्नोंमें छत्र और सिहासन (चमर विष्णु भगवान्के चरणोंमें रहता हैं)। वस्त्रोंमें पीताम्बर, आभूषणोंमें बाजूबंद, वाद्योंमें मुरली और वीणा, पात्रोंमें स्वर्णकुम्भ और देवताओंमें ब्रह्मा हैं। इनके अतिरिक्त स्वस्तिक, अग्निकुण्ड, बलि, उर्ध्वरेख, त्रिकोण, अष्टकोण, नवकोण, दर्पण, घंटिका, महल, शंख, तिल एवं जौके चिह्न है। तिल, अथवा स्वधा पितृलोकका प्रतीक है और स्वाहा देवलोकका प्रतीक है। इनके अतिरिक्त भगवान्के चरणोंमें एक और विशेषता यह है कि उनके दाहिने चरणमें उनकी शक्ति (श्रीकृष्णके चरणमें श्रीराधा, श्रीरामके चरणमें श्रीजानकी और श्रीविष्णुके चरणमें श्रीलक्ष्मी) रहती हैं। और इनका आकार इन सारी वस्तुओंका बना हुआ रहता है। चक्र, चामर, लता आदिके चिह्न श्रीराधिकाजीके चरणोंमें रहते हैं।

कोई यह कहे कि छोटे–से चरणोंमें ये सब चीजें यथास्थान अपने–अपने आकारमें कैसे रहती हैं तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी बात तो प्राकृतिक संसारमें भी सम्भव है। उदाहरणतः हम एक छोटे–से प्लेटमें बड़े–से–बड़े मकान, पहाड़, नदी, समुद्र आदिका भी फोटो ले सकते हैं और उस प्लेटके अंदर मकान आदिका आकार बहुत छोटा होनेपर भी देखनेमें बहुत बड़ा लगता है। जब भौतिक संसारमें भी ऐसी बात सम्भव है, तब भगवान्के लिये कौन–सी बात असम्भव है। जिनकी मायाको ही शास्त्रोंमें अघटन–घटनापटीयसी आदि विशेषणोंसे विशेषित किया है। वे आकाशमें अनवकाश और अनवकाशमें अवकाश कर सकते हैं। वे भ्रूविलास–मात्रसे सृष्टिको रचा देते हैं और फिर उसी प्रकार उसे अपनेमें विलीन कर लेते हैं। वे चाहें तो एक सूईके छेदमेंसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको ज्यो–का–त्यों निकाल सकते हैं। ऐसा करनेके लिये उन्हें सूईके छिद्रोंको बड़ा करने अथवा ब्रह्माण्डोंके आकारको छोटा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यही तो उनका ऐश्वर्य है। इस प्रकारकी कुछ आंशिक सिद्धियाँ तो योगियोंतकमें पायी जाती हैं। जैसे बहुत–से योगी केवल (आकाश) वायुतत्त्वका शरीर रचकर दीवालको बिना फोड़े हुए उसमेंसे निकल सकते है। परंतु योगियोंकी गति पञ्चभूतोंतक ही सीमित

हैं। उनसे आगे वे नहीं जा सकते। परंतु भगवान् जो चाहें सो कर सकते हैं।

सारांश यह कि ऊपर बतायी हुई सारी वस्तुएँ अपने असली रूपमें और चेतन होकर भगवान्‌के चरणोंमें रहती हैं– जिस प्रकार अर्जुनके रथमें श्रीहनुमान्‌जी साक्षात् रूपसे ध्वजाके उपर रहते थे। यों तो यह भौतिक जगत् भी सारा परमात्मारूप होनेके नाते चेतन ही है ; यहाँ जो कुछ जड़ रूपमें दिखलाई देता है, वह वास्तवमें चेतन ही हैं; किंतु यह बात ज्ञान–दृष्टिसे कहीं जाती है। केवल भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवालोंको ही सारा जगत् चेतन–रूप दिखायी देता हैं, अज्ञानियोंको नहीं। परंतु भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु लौकिक नेत्रोंसे भी चेतन दिखलायी देती हैं ; यद्यपि जिन नेत्रोंके सामने भगवान्‌का विग्रह प्रकट होता है वे नेत्र लौकिक होते हुए भी दिव्य भावापन्न हो जाते हैं। जब सारा जड़–चेतन संसार भगवान्‌के चरणोंमें समाया हुआ रहता है, तब इतने चेतन पदार्थ एक साथ उनके अंदर रहें, इसमें आश्चर्य हीं क्या है। **'तद्‌विष्णोः परमं पदम्'**–ऐसा उपनिषदें कहती हैं। सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें ही है। सारी विभूतियाँ उनके चरणोंमें प्राप्त हो सकती हैं।

ऊपर जितने चिह्न गिनाये गये हैं, सब सार्थक हैं। उनमें एक भी व्यर्थ नहीं है। उन सबमें गूढ़ रहस्य भरा हुआ हैं। चरणोंमें इतने सारे चिह्न धारण करनेमें भगवान्‌के दो प्रधान हेतु हैं– एक तो यह कि जिसमें सारा विश्वका नमूना एक जगह आ जाय। इसीलिये ऋषि, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, नक्षत्र, आयुध, आभूषण, वृक्ष, पर्वत, वस्त्र, राजचिह्न, वाद्य, पात्र, फल, फूल–सभी वर्गोमेंसे एक–एक वस्तु चुनी गयी हैं। दूसरा हेतु जिसका सम्बन्ध खासतौर पर भक्तोंसे है, यह है कि यद्यपि भगवान्‌के चरणोंको हृदयके ऊपर स्थापित करनेका प्रत्येक भक्तको अधिकार नहीं है (केवल उनकी प्रेयसियोंको ही यह अधिकार प्राप्त है), वह भक्तके हाथकी बात नहीं हैं, तथापि उनको हृदयके भीतर ले आनेकी तो प्रत्येक भक्तमें सामर्थ्य है ही–ऐसी दशामें जो भगवान्‌के चरणोंको हृदयमे रख लेता है, उसके हृदयमें उन चरणोंके साथ ये सभी पदार्थ अपने आप आ जाते है– जिस प्रकार रत्नोंसे भरे हुए पात्रको अपने घरपर ले आनेपर उस पात्रके साथ–साथ वे रत्न अपने–आप आ जाते हैं। सारे विश्वका ऐश्वर्य और माधुर्य उन चरणोंके साथ–साथ भक्तके हृदयमें आ जाता है ; क्योंकि

भगवान्‌के चरण सारे ऐश्वर्य और माधुर्यके स्रोत हैं। प्रेमाभक्तिके आचार्य स्वयं नारदजी उन चरणोंके साथ हृदयमें आ जाते हैं, तब वह भक्त प्रेमाभक्तिसे कैसे वंचित रह सकता है। स्वस्तिकका चिह्न शुभका प्रतीक हैं। सर्वतोदिश मंगलका द्योतक है। अतः जो शुभ चाहनेवाला है उसके हृदयमें स्वस्तिक प्रवेश कर उसका सब प्रकारसे कल्याण करता है। उपर्युक्त पदार्थ सब दिव्य धामके है और भगवान्‌के ही रूपमें वे सारी शक्तियोंको लेकर हमारे हृदयमें आते हैं। अतः योगसिद्धियोंसे भी अधिक सिद्धियॉं उसे प्राप्त होती हैं, जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण आ जाते है ; क्योंकि सारी शक्तियोंके स्त्रोत भगवान्‌के चरण हैं। जब,सारी शक्तियोंका आधार ही हृदयमें आ गया तब शेष शक्तियॉं कैसे बाकी रह सकती हैं। योगी उन शक्तियोंके किसी अंशको प्राप्त होकर उनका उपयोग करता है। किंतु भक्त भगवान्‌के प्रेममें मस्त होकर शक्तियोंको भूल जाता है। इसके ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने भक्तश्रेष्ठ श्रीहनुमानजी हैं। उनमें सब प्रकारकी शक्ति होते हुए भी उसकी उन्हें सर्वथा विस्मृति रहती थी। जाम्बवान् आदिके द्वारा उस शक्तिका स्मरण दिलाये जानेपर महान् शक्तिमान् हो जाते थे। ईश्वरीय शक्ति रहती है भगवान्‌के चरणोंमें। उन चरणोंमें-जिनका मन लग गया, उसके अंदर वह शक्ति क्रमशः उतर आती है। और जिसके मनमें वे चरण एक बार स्वयं प्रवेश कर जाते हैं फिर वे वहॉंसे हटते नहीं। ऐसा भक्त अतुल शक्तिशाली हो जाता है। सारी शक्तियॉं उसकी आज्ञावाहिनी होकर उसके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती है ; किंतु वह उनकी ओर ताकता भी नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है–

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छिति मद् विनान्यत्।।

यहॉं एक बात और ध्यान देनेकी है ; वह यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें जितनी वस्तुऍं ऊपर गिनायी हैं वे सब–की–सब भक्तके हृदयमें भगवान्‌के चरणोंका प्रवेश होते ही अपनी–अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देती हैं। उदाहरणतः भगवान्‌के चरणोंमें जो सूर्य है उसके चरणोंके साथ हृदयमें प्रवेश होते ही भक्तके हृदयका सारा अन्धकार विलीन हो जाता है। इसी प्रकार चरणगत चन्द्रमाके प्रवेश होते ही भक्तके हृदयमें अमृतकी वर्षा

शुरू हो जाती है, जिससे उसके सारे पाप–ताप नष्ट हो जाते हैं। कामधेनुके प्रवेश होनेसे वासना हृदयमें उठनेसे पहले ही पूर्ण हो जाती है। कल्पवृक्षके प्रवेश होनेसे मनमें किसी प्रकारका संकल्प रह ही नहीं जाता। उर्वशी जो भगवान् नारायणके शरीरसे उत्पन्न हुई है, उसके हृदयमें प्रवेश करते ही सौन्दर्यकी सांसारिक वासना नष्ट हो जाती है। ज्ञान–वैराग्य सब आ जाते है। वज्रके आनेसे पापोंके पहाड़ बात–की–बातमें नष्ट हो जाते हैं। चरणोंके अंदर जो शक्ति नामका आयुध है, उसके सामने पाप–तापकी सारी शक्तियाँ क्षीण–बल हो जाती है। भगवान् वंशीको अपने चरणोंमें इसीलिये रखते हैं कि वह सांख्ययोग, निष्कामकर्म और शरणागतिका मूर्तरूप है। वंशीरव इतना मनोमुग्धकारी है कि उसके सुननेमात्रसे ही **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** इस भगवद्‌वाक्यका स्वरूप स्वतः सिद्ध हो जाता है। सारे धर्मोंका परित्याग फिर करना नहीं पड़ता। वह अपने–आप हो जाता है। लोकधर्म, वेदधर्म और देहधर्म सब वंशीके अमृतद्रवमें धुलकर साफ हो जाते है, बह जाते हैं। वंशी देखनेमें जड़ बाँसकी बनी हुई प्रतीत होनेपर भी थी कोई सिद्ध भक्त, जिसने लौकिक दृष्टिमें जड़ बनकर भी भगवान्‌के अधरमें, करकमलोंमें तथा टेरमें नित्य आश्रय प्राप्त किया था। मनुष्य तो क्या किसी देवताको भी यह सौभाग्य मिल जाय तो क्या वह इसे छोड़ना चाहेगा? जिस भूमिपर भगवद्‌भक्तोंके पैर पड़ते है; ब्रह्मादिक देवता तो उस भूमिके लतागुल्मादि बननेमें भी अपना सौभाग्य मानते हैं। कुछ प्रेमी चाहते हैं कि हम दर्पण बन जायें जिसमें मनमोहन अपने जगन्मोहनरूपको निरखते रहें। एक प्रेमी भक्तने उस वृक्षकी डाल बननेकी कामना की है जिस डालपर झूला डालकर प्रिया और प्रियतम झूलते हैं। इसपर वेदान्ती लोग आक्षेप किया करते हैं कि भक्त लोग चेतनसे जड़ बनना चाहते हैं। वे लोग भूलते हैं। वास्तवमें मुरली आदि वाद्य तथा भगवान्‌के आयुध, आभूषण, वस्त्र आदि सभी चेतन एवं भगवान्‌के नित्य परिकरोंमें हैं, जो सदा भगवान्‌के साथ रहकर भगवान्‌की सेवामें संलग्न रहते हैं।

एक बार किसी गोपीने भगवान्‌की वंशीसे पूछा कि तूने ऐसा कौन–सा तप किया है जिसके कारण तू सदा भगवान्‌के अधरामृतका पान करती है। इसपर मुरलीने कहा कि मैंने अपने हृदयको एकदम खोल दिया है–अंहकारशून्य कर दिया है। भगवान् जैसा सुर मेरे अंदर भरते हैं वही

राग मैं अलापने लगती हूँ, मैं अपनी बुद्धिका प्रयोग नहीं करती। अमुक राग बजाओ, ऐसा नहीं कहती। अहा ! अचेतन होनेपर भी मुरलीने इस प्रकारका जड़त्व ग्रहण कर लिया था, तभी तो उसे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसे देखकर भगवान्‌की अति प्रेयसी व्रजांगनाओंको भी ईर्ष्या होती थी। इससे यह सूचित होता है कि मुरलीमें सारा ज्ञान और कर्म भरा है। उसमें कामका और फलासक्तिका ही त्याग नहीं है, अहंकारका भी पता नहीं है। जिसे संख्यमार्गके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी है वह मुरलीसे सांख्यकी दीक्षा ले, निष्कामकर्म सीखना हो मुरलीसे सीखे। इसीलिये ये भगवान् इसे अपने चरणतलमें रखते हैं।

इसके अतिरिक्त एक महत्त्वकी बात और है, वह यह है कि मुरलीका केवल मनुष्योंपर ही नहीं, जड़–चेतन सबपर समान रूपसे अक्षुण्ण प्रभाव पड़ता हैं। उसके रवको सुनकर जड़ चेतन और चेतन जड़ हो जाते हैं। वृक्षोंसे रस टपकने लगता है। सूखी लकड़ियॉं भी गीली हो जाती हैं। शुष्क हृदय रसमय बन जाता है। जिस समय भगवान्‌की वह अनोखी मुरली व्रजमें बजती थी, लाखों गायें और बछड़े उन्हें घेर कर खड़े हो जाते थे और स्तब्ध एवं निश्चेष्ट होकर उंस शब्दको सुनते थे। यहॉं कोई यह आश्चर्य न करे कि व्रजमें लाखों गायें कहॉंसे आयीं ? जिसके पास नौ लाख गायें होती थीं उसकी नन्द संज्ञा होती थी, और उससे कुछ कम संख्याकी गायें जिसके पास होती थीं वह उपनन्द कहलाता था। इस प्रकारके उपनन्द तो गोकुल और वृन्दावनमें अनेक थे। उन सबकी गायें एकत्र होकर व्रजकी वनभूमिमें गोप–बालकोंकी देख–रेखमें चरने जाती थी और नन्दनन्दन उन सबोंके नेता थे। जिस समय वे अपनी मुरलीमें सुर भरते सब–की–सब गायें और बछड़े दूर–दूरसे वंशी–रवको सुनकर दौड़े आते और सब कुछ भूलकर उस वंशी रवको सुननेमें तल्लीन हो जाते थे। उस समय उन सारे पशु–पक्षियोंतकका बिना किसी प्रकारका प्रयत्न किये योग सध जाता था। गायें चरना भूल जातीं और बछड़े अपनी माताओंका दूध पीना छोड़ देते थे। जो जिस अवस्थामें होता उसी अवस्थामें सन्न–सा होकर रह जाता। सारी क्रिया उसकी बंद हो जाती। हिलना–डुलना तक बंद हो जाता। उस अलौकिक कर्ण–रसायनके कानोंमे आते ही आत्यन्तिक तृप्ति हो जाती थी। इससे यह भाव लेना चाहिये कि जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरणोंके साथ वह मुरली आ गयी, उसमें उस मुरलीके गुण आ

जाते है; अर्थात् उसका मनरूप पक्षी इधर–उधर उड़ना छोड़कर स्थिर हो जाता है। उसकी इन्द्रियरूप गायें अपने–आप वशमें हो जाती हैं। उन्हें फिर रोकनेके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिये श्रीमद्भागवतके योगीश्वर हरिने जनकसे भक्तके लिये कहा है कि 'वह ऑख मूँदकर भी यदि दौड़े, तब भी उसे गिरने अथवा लड़खड़ानेका डर नहीं रहता–**(धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेदिह च स्खलेदिति)**' । बात यह है कि जिसके मन–इन्द्रिय वशमें हों, वहीं ऑख मूँदकर दौड़ सकता है और उसके गिरनेका भय नहीं रहता। यह बात तो हम संसारमें भी देखते है। जिस सवारका घोड़ा सधा हुआ होगा, वह सोते हुए सवारको भी निर्विध्नतापूर्वक इष्ट स्थानपर पहुँचा देगा। ऐसे उदाहरण घोड़ों और बैलोंके सम्बन्धमें कई देखनेमें आते हैं।

एक भाव मुरलीका और है। वह यह है कि मुरली केवल भगवान्‌के पास रहती है। उसे भगवान्‌का ही स्वामित्व स्वीकार है। कभी–कभी सखियाँ उसे चुरा अवश्य लेती हैं, परंतु अधिकार उसपर नन्दनन्दनका ही रहता है। इसी प्रकार हमलोग भी वास्तवमें भगवान्‌के ही है। हमारे ऊपर भगवान्‌का अस्तित्व रहना चाहिये; हमें उन्हींका होकर रहना चाहिये और इस बातके लिये सतर्क एवं सचेष्ट रहना चाहिये कि हमारे ऊपर किसी अन्यका प्रभुत्व न होने पावे। गोस्वामी तुलसीदासजीने विनयपत्रिकामें भगवान्‌से यही प्रार्थना की है कि यह हृदय आपका मन्दिर है। इसे काम–क्रोधादिक डाकू लूटे डालते हैं, इन्हें हंटाकर यदि आप इसपर कब्जा नहीं कर लेंगे तो इसमें आपकी बदनामी होगी।

कह तुलसिदास सुनु रामा। तस्कर लूटहिं तव धामा ।।
चिंता यहि मोहि अपारा। अपजस नहिं होय तुम्हारा ।।

मुरली भगवान्‌की ही होकर रहती है; इसलिये भगवान् उसे क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते। बस, उसी प्रकार यदि तुम भी भगवान्‌के ही होकर रहोगे तो तुम्हें भी भगवान् कभी नहीं छोड़ेंगे, सदा अपने पास रक्खेंगे– यही मानो मुरली हमें शिक्षा दे रही है। इस प्रकारके भाव केवल कल्पनाप्रसूत नहीं है, ढूँढ़नेपर शास्त्रोंमें मिल सकते हैं और संतोका अनुभव भी ऐसा है। और–और चिह्नोंका भी इसी प्रकारका भाव बताया जा सकता है।

एक भाव वंशीका और है। वंशीमें छेद हो रहे हैं, उसका शरीर

बिंधा हुआ है। इससे अभिप्राय यह निकलता है कि जिसका हृदय प्रेमके बाणोंसे बिध जाता है, जिसके हृदयमें छेद हो जाते हैं, उसीको भगवान्‌की प्राप्ति होती है। वंशी प्रेमकी याद दिलाती है।

अब जो चरणोंमें चन्द्र और सूर्य हैं, उनका भाव सुनिये। यों तो भाव अनेक हैं, परंतु जो–जो ध्यानमें आते हैं, वहीं सुनाये जाते हैं। यहाँके सूर्य और चन्द्रमें जो प्रकाश है वह भगवान्‌के चरणोंसे ही आता है। यह ऊपर बताया जा चुका है कि भगवान्‌के चरणोंका नाम ही परमपद हैं; क्योंकि भगवान्‌का नित्य धाम यहाँके चन्द्र–सूर्यसे प्रकाशित नहीं है–

'न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।'

वहाँ दूसरे ही चन्द्र–सूर्य हैं और वे भगवान्‌के चरणोंमें स्थित हैं। उन्हींसे यहाँके चन्द्र–सूर्यको प्रकाश मिलता है। यही भाव चरणोंमें चन्द्र–सूर्यके होनेका है।

दूसरा भाव यह है कि जिनकी परमगति होती है, वे सूर्यमण्डलको भेदकर जाते हैं। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेनेपर आश्रयी भक्त अपने–आप सूर्य–मण्डल–भेदी हो जाता है। उसे इस लौकिक सूर्य–मण्डलको भेदनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

तीसरा भाव यह है कि चन्द्र और सूर्य विश्वके नेत्र हैं ; सूर्य, चन्द्र न रहें तो जगत्‌में सर्वत्र अन्धकार हो जाय ओर सृष्टिका काम ही न चले। परंतु इन सूर्य–चन्द्रका प्रकाश तो सदा नहीं रहता। भगवान्‌के चरणोंमें रहनेवाले चन्द्र–सूर्य सदा प्रकाशित रहते हैं, जिससे उन चरणोंका ध्यान करनेवालोंके हृदयका तम सदाके लिये नष्ट हो जाता है।

चौथा भाव यह है कि शिव जहाँ भक्तकोटिमें हैं, वहाँ वे चन्द्रमाको अपने मस्तकपर इसीलिये रखते हैं कि वह भगवान्‌के चरणोंकी वस्तु हैं, वह उन चरणोंकी याद दिलाता है।

कदम्बके फलको चरणोंमें धारण करनेका भाव यह है कि भगवान् श्रीकृष्णको कदम्बसे बढ़कर और कोई वृक्ष प्रिय नहीं है। कदम्ब भगवान्‌के दिव्य लोकमें उनके दिव्य भवनके बीचमें एक रत्नवेदीके ऊपर स्थित है और इसीकी छायामें भगवान् विराजते हैं। वह कदम्ब–वृक्ष नित्य हैं और उसके फल भी नित्य है। उन फलों तथा उसीके फूलोंकी गन्धसे, जो एक साथ ही लगते हैं, प्रेमका प्रवाह नित्य झरता रहता है और दिव्य भवनमें प्रवाहित होता रहता है। अतः कदम्बका फल प्रेमका द्योतक है, जिनके

हृदयमें भगवान्‌के चरण निवास करते हैं, उनसे प्रेम कदापि अलग नहीं हो सकता।

भगवान्‌के चरणगत अश्वत्थके दो भाव हैं। एक तो यह कि अश्वत्थ सब वृक्षोंमे श्रेष्ठ और भगवान्‌का स्वरूप है—**'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।'** दूसरा भाव यह है कि अश्वत्थका वृक्ष आयुर्वेदिक शास्त्रके अनुसार बड़ा उपयोगी है। उसकी जड़, छाल, फल, गूदा,स्कन्ध, शाखा सभीमें रोगनाशक शक्ति है। वैद्य इसीके नीचे बैठकर समस्त रोगोंकी चिकित्सा कर सकते है। यह वैद्यककी विभूति है। अतः जो भगवान्‌के चरणगत अश्वत्थकी छायामें आ गया, उसके शारीरिक—मानसिक सभी प्रकारके रोग सदाके लिये शान्त हो गये।

तीसरा भाव यह है कि इस संसारको गीताजीने अश्वत्थ् कहा है, जिसकी शाखा नीचे और मूल ऊपर है—**'उर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।'** यह संसाररूपी अश्वत्थ भगवान्‌के चरणोंमें है, अर्थात् सारे संसारकी उत्पत्ति उनके चरणोंसे है। ये चरण जिसके हृदयमें स्थित हो गये, वह मानों सारे संसारका आधार बन गया।

भगवान्‌के चरणोंमें जो कुम्भ है, वह अमृतसे पूर्ण है, उसीसे सबको अमृत मिलता है, अतः देवताओंकी रक्षाका आधार वही है। इसीलिये प्रत्येक वैदिक एवं तान्त्रिक अनुष्ठानमें पहले घट—स्थापन किया जाता है। घट—स्थापनसे देवता सुरक्षित हो जाते हैं। अतः जहाँ यह अमृत—कलश है, वहाँ सुरक्षितता है। असुर, राक्षस, भूत, प्रेत आदिकी पराजय अपने—आप होती रहती है। जिसके हृदयमें इस अमृत—कलशसे युक्त भगवान्‌के चरण रहते है, वह हृदय निरुपद्रव रहता है। वहाँ किसी प्रकारकी आसुरी अथवा राक्षसी वृत्तियाँ उपद्रव नहीं कर सकतीं।

मीनका भाव यह है कि मीनका जलके साथ घनिष्ठ एवं अनन्य प्रेम है। जलके वियोगमें मछली क्षणभर भी जी नहीं सकती। जलके अतिरिक्त उसे हम चाहे दूधमें, शर्वतमें अथवा अमृतमें ही क्यों न रखें, वह उसके भीतर रहकर भी प्राण धारण नहीं कर सकती। जल ही उसके जीवनका एक मात्र अवलम्बन है। जलसे वियुक्त होते ही वह पूरी तरह छटपटाने लगती है। इतनी व्याकुल होती है कि उसकी व्याकुलताका हम अनुमान भी नहीं कर सकते। इसी प्रकार भक्तके हृदयमें भगवान्‌के प्रति ऐसा तीव्र अनुराग होना चाहिये कि वह पलभरके लिये भी भगवान्‌के

चिन्तनका अभाव न सह सके, उसके प्राण कण्ठगत हो जायँ। भगवान्‌के चरणोंमें रहनेवाली मछली हमें यह सिखलाती है कि मछलीकी भॉति हमें भगवान्‌में अनन्यचित्त होकर रहना चाहिये। मछली यद्यपि चंचल है, किन्तु उसकी चंचलता पानीमें ही है। इसी प्रकार हमारा यह मनभी भगवान्‌रूपी अमृतसमुद्रमें ही दौड़ता रहे। यही चेष्टा हमलोगोंको करनी चाहिये। हमारे चित्तका सारा स्पन्दन भगवान्‌में होता रहे, चित्तवृत्ति सदा भगवान्‌में ही लगी रहे। प्रेमकी अनन्यताको सूचित करनेके लिये मानों भगवान्‌ने मछलीको अपने चरणोंमें स्थान दे रखा है।

दूसरा भाव यह है कि मछली रसग्राहिका है। जहॉ खानेकी वस्तु उसे मिलती है, वहॉ वह सब कुछ भूल जाती है, प्राणतक दे डालती है। इसी प्रकार भगवान्‌के रसमें हमारा चित्त भी मछलीकी तरह रागयुक्त होना चाहिये। यही शिक्षा मानो भगवान्‌के चरणोंकी मछली हमें दे रही है।

भगवान्‌के चरणोंमें जो सिंहासन है, अब उसका विचार करते है। सिंहासन किसको प्राप्त है, जो सम्राट है, विजयी है, अधिकारयुक्त है, उसीको सिंहासन मिलता है, वही सिंहासनपर आसीन हो सकता है ; अर्थात् जो भगवान्‌के चरणोंका सेवक बन गया, चित्त, इन्द्रिय आदि जितने आन्तर एवं बाह्य करण हैं, वे सब उसके अधीन हो जाते है। इन सबका वह राजा हो जाता है। दूसरा भाव यह है कि जो मनुष्य ईश्वरका जन हो गया, ईश्वर स्वयं उसके बन जाते है ; फिर उनके सारे ऐश्वर्यपर भी उसका अधिकार हो जाता है– यद्यपि वह उस ऐश्वर्यकी परवा न कर ऐश्वर्योंके स्वामीमें ही चित्तको निवेशित किये रहता है।

तीसरा भाव यह है कि राजा सबको अपने इच्छानुसार चलाता है। इसी प्रकार भक्तके मन और इन्द्रियॉ भी जैसे वह उनको चलाना चाहता है वैसे ही चलने लगते है। उनपर उसका पूरा प्रभुत्व हो जाता है। यही उनका सम्राट होता है।

भगवान्‌के चरणोंमे जो रथ है, उसमें घोड़े नहीं जुते हैं। उसे चलानेके लिये किसी अन्य चेतनकी आवश्यकता नहीं है। यह बात पहले चाहे किसीकी समझमें न आयी हो, पर आज जब हम मोटर, रेल, सायकिल आदिको देखते हैं तो आश्चर्य नहीं होता। अन्तर यह है कि उनमें मशीन आदि तो रहती हैं, भगवान्‌के इस रथमें मशीन भी नहीं है। बात यह है कि इस स्थूल जगत्‌के पीछे एक सूक्ष्म जगत् है, जिसे

अन्तर्जगत् भी कहते है। उसमें जो क्रियाएँ होती हैं, उन्हें हम चाहे जान न सकें, परंतु उन्हें हम अस्वीकार नहीं कर सकते। रेडियोने इस बातको प्रमाणित कर दिया है। रेडियोका सम्बन्ध भी स्थूल जगत्‌से ही है। रेडियोके द्वारा आज हम हजारों कोसोंकी बात ज्यो-की-त्यों यहाँ बैठे सुन सकते हैं। रेडियोंका यन्त्र बिना तारके सम्बन्धके हजारों कोसोंके शब्दको बाँधकर हमारे कर्णगोचर कर देता है। श्राद्धका अन्न ब्राह्मणोंके पेटके द्वारा हमारे पितरोंको कैसे प्राप्त हो जाता है ? इसका रहस्य भी रेडियोके उदाहरणसे हमें कुछ-न-कुछ समझमें आने लगा है। अग्निष्वात्तादि पितृगण इसी कार्यके लिये खास तौरपर नियुक्त हैं। उन्हींकी शक्तिसे यह काम होता रहता है। जब शब्दोंके पोथें हजारों कोसकी यात्रा करके चले आते हैं तो क्या हमारा पहुँचाया हुआ अन्न पितरोंको प्राप्त नहीं हो सकता? उन पितृगणोंकी शक्ति बिना किसी स्थूल आधारके ही काम करती रहती है।

दक्षिणमें एक चाँगदेव नामक योगी हो गये हैं, जो एक हजार चार सौ वर्षोंतक जीवित रहे। वे प्रत्येक सौ वर्षाके बाद कायाकल्पके द्वारा उसी शरीरमें दूसरा शरीर रच लेते थे, किंतु उन्हें वह क्रिया प्राप्त नहीं हुई, जिससे वे भगवान्‌में मिल जाते। इसीलिये वे एक बार ज्ञानेश्वर महाराजके यहाँ, जो महायोगी थे, सिंहपर सवार होकर आये। उस समय ज्ञानेश्वर महाराज बालक थे, वे एक दीवारपर चढ़े हुए अपनी बहन मुक्ताबाईके साथ खेल रहे थे। उन्होंने जब योगी चाँगदेवको सिंहपर आरूढ़ होकर अपने सामने आते हुए देखा, तब उन्होंने उस दीवारको जिसपर वे सवार थे, चलनेकी आज्ञा दी। बात-की-बातमें दीवाल चलने लगी। यह देखकर चाँगदेव बड़े लज्जित हुए और ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंपर गिर पड़े। इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजकी मनःशक्तिसे जब जड़ दीवार भी चेतनवत् चलने लगी, तब योगेश्वर भगवान्‌का रथ यदि बिना घोड़ोंके चले तो इसमें आश्चर्य ही क्या हैं। उनकी संकल्प-शक्तिसे तो वह रथ ही क्या, यह सारा सौरमण्डल चल रहा है। हमारे पूर्वजोंकी मनःशक्ति इतनी प्रबल थी कि उन्हें रेल, तार आदि भौतिक साधनोंकी कभी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई और इसीलिये उस समय ये आविष्कार आदि नहीं हुए। उनमें इन आविष्कारोंको करनेकी शक्ति नहीं थी, यह बात नहीं है। जो काम आज रेल, तार, हवाई जहाज और रेडियोसे होते है, वे तो योगकी बहुत स्थूल

शक्तियोंसे निष्पन्न हो जाते थे। भाव यह है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय पाकर भक्त उस रथपर सवार हो जाता है, जो बिना किसी घोड़े आदिके भगवान्‌की मनःशक्तिसे ही संचालित होकर उसे बात–की–बातमें भगवान्‌के समीप पहुँचा देता है। कहीं–कही भगवान्‌के चरणोंको रथ कहा गया है। भक्त भगवान्‌के चरण–रथपर सवार होकर भगवान्‌के निकट पहुँच जाता है। वास्तवमें चरण प्राप्त हो जानेपर फिर चलना क्या है। चरण मिल जानेपर फिर भगवान् बाकी थोड़े ही रहते हैं। भगवान्‌के चरण भगवान्‌से पृथक् थोड़े ही हैं। ज्ञान और भक्तिके साधनमें यही अन्तर है। भक्तिपथके पथिक साधनकालमे भी भगवान्‌के साथ रहते हैं, किन्तु ज्ञानमार्गी निःसहाय रहता है। उसे भगवान्‌का सहारा साक्षात् रूपसे प्राप्त नहीं होता। इसीलिये रास्तेमें उसे चोर–डाकुओंका भी भय रहता है। भक्तकी भाँति वह आखें मूँदकर नहीं दौड़ सकता।

अब भगवान्‌के चरणोंमें रहनेवाले धनुषकी बात सुनिये। इस धनुषमें डोरी (प्रत्यंचा) नहीं है। बिना डोरीके ही उसमें बाणका संधान होता है। यही उसकी विशेषता है। भगवान्‌के चरणोंमें घनुष आदि जितने शस्त्र है, उन सबका उद्‌देश्य भक्तोंके विरोधियोंका विनाश करना है। भगवान्‌का निजका कोई शत्रु नहीं है। अपने भक्तके विरोधियोंमें ही वे विरोधित्वका आरोप कर लेते है, किंतु भगवान् अपने भक्तके विरोधियोंको मारकर भी उन्हें तार देते हैं। सच पूछिये तो उन्हें तारनेके लिये ही वे उन्हें मारते है। वास्तवमें किसीको मारनेका अधिकार उसीको है जो मारकर तार सके। यह शक्ति भगवान् अथवा उन्हींकी शक्तिको प्राप्त किये हुए कारक पुरुषोंमें ही होती हैं। अतः मारनेका अधिकार उनको छोड़कर और किसीको नहीं है। भगवान् दुष्कृतियोंको मारनेके लिये नहीं, अपितु उन्हें तारनेके लिये ही अवतार लेते है। जिसे वे मारते हैं, उसके अघरूप अघासुरका वे बीज नाश कर देते है। उसकी आत्माको वे अमर कर देते हैं, अपनेमें मिला लेते है। उसका मरना सदाके लिये मिट जाता है। ये शस्त्र भी जिसको मारते है। उसको तार देते है। जो इन शस्त्रास्त्रोंसे युक्त चरणोंका आश्रय ले लेते है, उनका कोई विरोधी नहीं रह जाता। उनके सब अनुकूल हो जाते हैं।

जा पर कृपा राम कर होई। ता कृपा करहिं सब कोई।।

उसके लिये आगकी दाहिका शक्ति मिट जाती है, विष भी अमृत हो जाता है।

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।।

भक्त प्रह्लादके लिये ऐसा ही हुआ था। उनका विष्णुपुराणमें वचन है—

रामनामजपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंन्धिौ पावकोऽपि सलिलायतऽधुना।।

अग्नि हमें तभीतक इष्ट है जबतक वह हमारे अनुकूल कार्य करती है, रसोई आदि बनानेमें सहायता देती है ; किंतु क्यों ही वह हमारे अंग आदिको जलाने लगती है,त्यों ही हम उसे बुझा देते हैं। जो भक्त भगवान्‌के प्रेममें अपने आपको भूले रहते हैं, उनके लिये भगवान् यह कार्य स्वयं करते हैं, अग्निको शीतल कर देते हैं, उसकी दाहिका शक्तिको खींच लेते हैं। शस्त्रोंकी शक्ति भी उसके अंगोके स्पर्शमें आकर कुण्ठित हो जाती है। भक्तोंको कष्टका अनुभव भी नहीं होता। लौकिक दृष्टिसे दुःखी होनेपर उनका दुःख भगवान्‌के आयुधोंद्वारा कटता रहता है, जिससे वे सदा प्रसन्न रहते हैं।

सभी शत्रुओंके लिये सब अवस्थाओंमें एक ही प्रकारके आयुधका प्रयोग नहीं होता। इसलिये भगवान् कई प्रकारके शस्त्रास्त्र अपने चरणोंमें धारण करते हैं। बाणके द्वारा दूर शत्रुपर प्रहार किया जाता है। इसी प्रकार भगवान्‌के चरणोंमें रहनेवाला बाण हमारे दूरके जन्म–जन्मान्तरके पापोंका नाशकर देता है। भगवान्‌के बाणमें अन्य बाणोंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि और बाणोंकी सीमा होती है, एक निर्दिष्ट दूरी से आगे उनकी गति नहीं होती, किंतु भगवान्‌के बाणकी कोई सीमा नहीं हैं, यह बात जयन्तके उपाख्यानसे सिद्ध होती है। भगवान्‌ने सींकका जो बाण छोड़ा वह अमोघ था, उसकी गति अप्रतिहत थी—अबाधित थी। इसीलिये किसी भी अचूक दवाका नाम 'राम–बाण' हो गया है। जयन्त देवपुत्र होनेपर भी उस बाणसे नहीं बच सका। वह सभी लोकोंमें गया ; किंतु उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सका। यही बात भगवान्‌के चक्रके सम्बन्धमें अम्बरीषके प्रसंगसे द्योतित होती है। और बाणोंका तो यह हाल है कि निशान यदि हट जाय अथवा चूक जाय तो वे निष्फल हो जाते है, किंतु भगवान्‌का बाण निशानेको छोड़ता नहीं, चाहे वह कहीं क्यों न चला जाय। भगवान्‌की कौमोदकी गदा, देवदत्त नामक असि तथा अन्य बरछी आदि शस्त्र समीपके अर्थात् प्रारब्ध तथा संस्कारगत पापोंका नाश कर देते

हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय जिन्हें प्राप्त हो गया है, उनके दूर, समीप अथवा स्वप्नमें भी पाप नहीं रह सकते।

ये सारे चिह्न भक्तोंके उपयोगके लिये हैं। भगवान् साकार विग्रह भक्तोंके लिये ही धारण करते हैं। जगत्‌में भगवान्‌की जो लीला होती है, उसमें भी उनके भक्त परिकर रूप से सदा साथ रहते हैं। इसीलिये वे मुक्ति नहीं चाहते ; क्योकि वे मुक्त तो हैं ही। बिना मुक्त हुए किसीके कर्म लीलावत् नहीं हो सकते। वेदान्तदर्शनमें भी एक सूत्र है–

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।'

यहाँ 'माया' शब्दका प्रयोग न होकर 'लीला' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदान्तसूत्रोंके रचयिता भी भगवान् और उनके भक्तोंकी लीलाको स्वीकार करते हैं। खेल सदा एक-सा नहीं होता। इसलिये वह अनित्य है। किंतु वह 'असत्' नहीं हैं ; क्योंकि वह होता है।

अस्त्र-शस्त्रोंका दूसरा भाव यह हैं कि इन शस्त्रोंके द्वारा जिनका नाश होता है वे भी तर जाते हैं। जो वस्तु सत् है उसका नाश नहीं होता, उसकी शुद्धि हो जाती है। रूपान्तर हो जाता है। देवर्षि नारद अपने सूत्रोंमें कहते हैं कि काम-क्रोधादि भी भगवान्‌के प्रति ही करने चाहिये । इससे यह सिद्ध होता है कि भक्तके अंदर काम-क्रोध तो रहते हैं, नहीं तो उनका प्रयोग भगवान्‌के प्रति करनेकी बात क्यों कहीं जाती ; परंतु वे काम-क्रोध दोषवाले एवं विकारयुक्त नहीं होते। उनका रूप दूसरा हो जाता है। वे शुद्ध हो जाते हैं–

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।'

गोपियोंके प्रेमको ही लोग काम कहने लगे हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ उसका विषय प्रेमास्पद अवश्य होना चाहिये और प्रेमास्पदमें अद्वैत होते हुए भी द्वैतकी कल्पना करनी पड़ती है। यह बात पहले कह आये हैं कि भगवान्‌के शास्त्रोंद्वारा जो मारे जाते हैं वे तर जाते है ; शिशुपाल आदि मरकर भगवान्‌के परिकर हो गये। इसी प्रकार मनके विकार विकार-रूपसे नष्ट हो जानेपर भी लीलारूपमें खेलनेके लिये रह जाते हैं, अतएव दानलीला, मानलीला आदि लीलाएँ होती हैं। ये सब शस्त्रोक्त हैं ; छल, कपट और दम्भ नहीं। ये सब बुरे भाव शुद्ध रूपमें आ जाते है ; क्योंकि भक्तके लिये मलिन मायाका पर्दा फट जाता है। वे भगवान्‌के दासत्वका अभिमान बनाये रखना चाहते हैं। तुलसीदास महाराजने कहा है–

अस अभिमान जाइ जनि मोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।

बात भी ठीक है, जिसके मनमें मुक्तिका लोभ नहीं, उसके चरणोंमें मुक्ति खेलती है। उस मनको मोहनेवाले मुखड़ेको देखते रहनेकी कामना यदि हट जाय तो वह काहेका भक्त और काहेका ज्ञानी ? ऐसी कामनाको कौन छोड़ना चाहेगा। इसीलिये गोसाईजी महाराजने कहा है—

अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने।।

वास्तवमें इन भक्तोंसे बढ़कर चतुर कौन होगा ? क्योंकि मुक्ति तो उन्हें ऐसे ही उत्तराधिकारके रूपमें मिल जाती है। मुक्तिपर तो उनका पैतृक अधिकार हो जाता है—**'मुक्तिपदेऽस्य दायभाक्'**। भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होना मुक्तिसे परेकी वस्तु है। अतः मुक्तिके पीछे इस सुखको कौन छोड़ना चाहेगा ? ऐसे भक्तोंके अंदर कामना रहती है ; परंतु वह एकमें केन्द्रीभूत रहती है। भक्तराज वृत्रासुरने भगवान्‌से यही माँगा है। उसने कहा—'मुझे न मुक्ति चाहिये, न किसी प्रकारकी सिद्धि चाहिये, न इन्द्रका पद चाहिये, न ब्रह्माका पद चाहिये, न तो त्रिलोकीका राज्य ही चाहिये। मेरी तो एक ही लालसा है कि जिस प्रकार पक्षिशावक जिनके अभी पर नहीं आये है, जो उड़ नहीं सकते, अपनी माताको पुकारते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुमहारे लिये छटपटाता रहूँ।' वाह, कैसी अनोखी कामना हैं। बात भी ठीक है, जिसकी माँ भगवान् बन जायँ वह उस भगवान्‌रूप माँकी गोदको क्यों छोड़ेगा ? मुक्ति तो उसकी छाया है।

तात्पर्य यह है कि भक्त शुद्धकामी होते हैं, उनका यह काम सारे सांसारिक कामोंको जलाकर उनकी चिताकी भस्म शरीरमें रमाकर नाचता है। शिव काम—प्रेम—रूप ही हैं। दूषित काम तो उनके तीसरे नेत्रसे ही दग्ध हो जाता है। शिवका रूप ही मदन—दहन है। वे सारी कामनाओंकी राखको लपेटकर दिन—रात प्रेमास्पदके नामको रटते हैं। इसी प्रकर भक्त भगवान्‌के अति कामी होते हैं। हमलोगोंके काम झुड़ काम हैं ; क्योंकि पहले तो झुड़ वस्तुको चाहता है जो नश्वर है, दूसरे वह अनेकको चहाता है। इसके विपरीत भगवत्काममें दूसरेको स्थान नहीं हैं, उस एकमें ही अनेक समाये हुए रहते हैं। मीरा कहती है—

ऐसे वरको क्या वरूँ, जो जनमै औ मर जाय।
वर वरिये एक साँवरो जो चुड़लो अमर हो जाय।।

यह भगवत्काम अन्य सारी कामनाओंके जल जानेपर उत्पन्न होता है।

भक्तोंके क्रोध और मान भी इसी श्रेणीके होते हैं। सीता वनगमनके प्रसंगमें श्रीरामसे कहती हैं कि यदि मुझे यह मालूम होता कि आप मुझे इस तरह अकेली छोड़कर वन जानेके लिये प्रस्तुत हो जायँगे तो मैं अपने पितासे कह देती कि वे मुझे आपके साथ न ब्याहें। भगवान् श्रीकृष्णके सखा तो कभी–कभी भगवान्‌को थप्पड़ भी लगा देते थें। भगवान् यह चाहते थे कि वे ऐसा करें, नहीं तो भला उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई ऑख उठाकर उनकी ओर देख तो ले ! यह अधिकार मामूली नहीं है। अर्जुन भी **'विहारशय्यासनभोजनेषु'** भगवान्‌के साथ रहा था। उसने भगवान्‌के अंगोपर पैर रखे थे। उनके साथ लिपटकर सोया था ; किंतु भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर वह डर गया, क्षमा मॉगने लगा–**'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।'** तब भगवान्‌ने उसे समझाया, सान्त्वना दी और कहा–तुम्हारा वह सारा व्यवहार, जिसके लिये तुम क्षमा मॉगते हो, प्रमाद नहीं था, प्रणय था। यह सब मैने ही कराया था। भक्तोंमे मान भी होता है, योग भी होता है,क्रोध भी होता है। मॉग पूरी न होनेपर मान होता है। भक्तकी मॉग पूरी न कर भगवान् सोचते हैं कि देखें, यह खीझता है कि नहीं ; और उसे खीझते देखकर प्रसन्न होते है ! तब भक्त उनसे रूठकर मान करके बैठ जाता है। 'प्रेमपत्तन' ग्रन्थमें कृष्णकी एक प्रेयसी यहॉतक कह बैठती है कि हमारे सामने नन्दनन्दनका नाम भी न लो। वहॉ प्रेमी औरॅ प्रेमास्पदमें व्यवधान ही सुखकर होता है; परन्तु यह प्रेमकी एक स्थिति होती है। यह कहनेकी वस्तु नहीं है। हमलोग इन प्रेमलीलाओंका यदि अनुकरण करने लगें तो यह अनुचित होगा। इसीलिये यह कहा गया है कि गुरूके सभी आचरणोंका अनुकरण न करों। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहुँचे हुए गुरूसे अशुभ आचरण भी होते हैं। तात्पर्य यही हैं कि उनके जो आचरण हमारी दृष्टिमें उपेक्षणीय, शंकायुक्त अथवा निषिद्ध प्रतीत हों, उन्हें हमें कदापि नहीं करना चाहिये।

कहते हैं, एक बार भगवान् शंकराचार्य अपने शिष्य समुदायके साथ किसी ग्राममें भिक्षाके लिये गये। वे ज्ञान और प्रेममें ऐसे छके हुए थें कि उन्हें बाहरका अनुसंधान ही नहीं था। ऐसी दशामें वे किसी कलवारके घर पहुँचे और वहॉ उनके भिक्षापात्रमें उन लोगोंने थोड़ी–सी शराब डाल दी, जिसे शंकर भगवान् पी गये। उनकी देखा–देखी उनके शिष्योंने भी ऐसा किया। भगवान् शंकराचार्यने सोचा, वे लोग उच्छृङ्खल हो रहे हैं

और हमारी सब बातोंका अनुकरण करने लगे हैं, इन्हें थोड़ी शिक्षा देनी चाहिये। ऐसा मनमें सोचकर वे किसी ऐसी दूकानपर गये जहाँ गरम शीशा ढल रहा था। दूकानदारने उनके आवाज लगानेपर झुँझलाकर उनके पात्रमें वही गला हुआ शीशा डाल दिया। भगवान् शंकराचार्य सिद्धयोगी ठहरे। वे योगबलसे उसे भी चढ़ा गये ! जब शिष्योंकी बारी आयी तब तो वे लगे धबराने और बगल झाँकने। तब गुरूजीने उनसे कहा कि तुम हमारे शास्त्रानुकूल आचरणोंका ही अनुसरण करो। जो बात तुम्हें दूषित अथवा शंकास्पद लगे उसे न करो। भागवतमें भी यही बात लिखी है और शंकरजीका उदाहरण दिया है। जो लोग शंकरजीकी भाँति हलाहल विषका पान कर सकते हैं, वे ही उनकी सारी लीलाओंका अनुकरण कर सकते हैं, अन्यथा इस प्रकारके अनुकरणसे बड़ी हानि होती है।

अस्तु, जब मुक्तिकी कामनाको ही कामना नहीं कहते तब जो कामना मुक्तिको त्यागनेके अनन्तर होती है, उसे कामना कैसे कह सकते है? लौकिक कामको तो भगवान्‌ने शत्रु कहकर मारनेकी आज्ञा दी है—

'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।'

नामोंसे भ्रम फैल गया। जैसे सगुण नामसे ही भगवान्‌को वेदान्ती लोग मायाविशिष्ट एवं मायिक कहने लगे ; किंतु जिनके अंग–गन्धसे मायाके पार पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष कामना–क्षुब्ध हो जाते हैं उन्हें हम मायाविशिष्ट कैसे कह सकते हैं ? जिस प्रकार नरक भी एक लोक है और गोलेक भी एक लोकविशेष है, उसी प्रकार हमलोगोंके कामकी और भक्तोंके कामकी तुलना की जाती है। वास्तवमें भक्तोंका काम तो सब कुछ समर्पण हो जानेके बाद प्रकट होता है और वही महायोग है। सच पूछिये तो वहाँ श्रेयका ही नाम काम है।

भक्तके हृदयमें काम–क्रोध आदिकी गन्ध भी नहीं होती। उसकी एकमात्र कामना भगवत्प्राप्तिकी होती है और जैसे ही भगवत्प्राप्तिकी कामना उत्पन्न होती है, उसी समय सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। भगवान् कितने आनन्दमय हैं, कितने प्रेममय हैं, उनमें कितनी अधिक शान्ति है— यह जानते ही मनुष्यका ध्यान संसारसे छूट जाता है और वह एकमात्र भगवान्‌के लिये व्याकुल हो उठता है, उसे भगवान्‌के अतिरिक्त उपनिषदों आदिमें किसी भी वस्तुकी आकांक्षा रहती ही नहीं। वेदान्तमें जिसे मुमुक्षा कहते है, वही भक्तकी लालसा कहलाती है। संसारकी सभी वस्तुएँ तुच्छ

हो जाती हैं। वैराग्यकी प्रथमावस्थामें ही-मुमुक्षाकी प्रारम्भिक स्थितिमें ही-संसारके सभी विषय काकविष्ठावत् तुच्छ, घृणित हेय प्रतीत होने लगते हैं। जब संसारके किसी विषयसे राग नहीं, काम नही तब फिर क्रोध कहाँसे होगा ? जब किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा ही नहीं रही तब फिर क्रोध होगा ही क्यों ? वहाँ तो मानाभिमान भी नष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌के रहस्यको जानकर अपनी हीनताका ज्ञान होता है। **'मत्समः पातकी नास्ति'** का भाव यही आता है। यही वास्तविक हीनताका आतुर अनुभव है। अभिमान करनेकी उसके पास कोई वस्तु रह नहीं जाती। भगवान्‌की अप्राप्तिमें जो अपनेको कंगाल मानता है वही सच्चा दीन है। इस दीनतामें दोष स्वयं भस्म हो जाता है। भक्त अपने हृदयका कोना-कोना टटोलता है। वह अपने भीतर दोषोंका अनुभव करता है। हो सकता है कि जबतक भगवत्-प्राप्ति नहीं हो जाती, दोषो का लेशांश रह जाय। भगवत्-प्राप्ति होते ही सारा अन्तस्तल तेजसे उद्‌दीप्त हो जाता है। प्रेमके मार्गमें भगवान्‌के साथ, भगवान्‌के इच्छानुसार, भगवान्‌की लीलाके लिये भक्तके हृदयमें केवल भगवान्‌की प्राप्तिकी कामना रह जाती है। भगवान्‌में भक्तकी लालसा और भक्तमें भगवान्‌की कामना होती है। सीताके विरहमें राम लताओंसे, हिरणसे पूछते है-'कहीं तुमने सीताको देखा है?' पागलकी भाँति राम वन-वनकी खाक छानते फिरते हैं। रामकी विकलता देखकर आश्चर्य होता है ; परंतु सीताके प्राप्त हो जानेपर उनका परित्याग कर देते हैं। इसमें कामनाकी गन्ध भी नहीं। यह तो प्रभुकी प्रेम-लीलाकी रहस्यपूर्ण क्रीड़ा है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

यही उनका व्रत है। भक्तके मनमें प्रभुकी कामनासे ही संकल्प उठता है। परमात्माका प्रेम पाकर भक्त आनन्दसे नाच उठता है और भक्तका आनन्द देखकर भगवान्‌का प्रेम उमड़ आता है। इस प्रकार प्रेम और आनन्दकी अजस्त्र वर्षा होती रहती है। प्रेमसे आनन्द और आनन्दसे प्रेमकी वृद्धि होती है। उस दिव्य कामकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सांसारिक पदार्थों और विषयोंके साथ उस प्रेम-कामको खटान प्रेमका अपमान करना है। अनधिकारियोंके कारण ही प्रेमका मार्ग अपमानित और कलंकित हो गया। दुरुपयोग तो लोग गीतातकका करते हैं। अपने दुराचारका समर्थन करनेके लिये मनुष्य शास्त्र और संतोकी शरण लेता है।

प्राचीन कालमें आचरणपर अधिक ध्यान रखा जाता था, साहित्यपर कम। आज तो प्रेसकी दयासे साहित्य सहज हो गया है और आचरण दुरूह।

भक्ति, ज्ञान अथवा योगमार्गमें साधनाद्वारा किसी भी मार्गमें काम–क्रोधादिका समर्थन नहीं हो सकता। निष्काम कर्मयोगमें भी, सिद्धि–असिद्धिमें सम होकर, संगका त्याग जहाँ कार्य होता है, फिर उसमें क्रोधादि कहाँसे आयेंगे ? भगवान्‌के लिये कर्मोंका नाम भक्ति है और जिसकी भक्ति करते हैं, उसे जाननेका नाम ज्ञान है। कर्म, भक्ति और ज्ञानमें कोई विरोध है ही नहीं। इनके साधनमें समानरूपसे काम, क्रोध और लोभ निःशेष हो जाना परमावश्यक ही नहीं ; अपितु अनिवार्य है। भगवान्‌ने अर्जुनको ललकारते हुए कहा है–

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।

इन शत्रुओंके वशमें जबतक हम हैं, तबतक हमारे मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होगी।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।

(गीता १६। २१)

काम, क्रोध और लोभ–ये नरकके द्वार हैं। ये आत्माका पतन करनेवाले है। इन तीनोंका नाश करनेपर ही भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है। जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं। क्रोध तो पिशाच है। काम, क्रोधादि मोहिनी, आसुरी और राक्षसी वृत्तियाँ है। भक्ति तो क्या संसारके सुखके लिये भी काम–क्रोधादिको मिटा देना आवश्यक है। भक्तिके पथमें आश्वासनकी बात अवश्य यह है कि भक्तिमें लग जानेपर इन शत्रुओंका नाश स्वयं हो जाता है। भगवान्‌के बलकी शरण ले लेनेपर इनका नाश सहज ही हो जाता है। भरोसेकी बात यह है कि भगवान्‌की प्रतीज्ञा है– 'हमारी शरणमें चले आओ, मैं तुम्हारें सब पापोंका नाश कर दूँगा।' जब भगवान्‌का बल, भगवान्‌का भरोसा हमें प्राप्त हो गया तब फिर डरना कैसा ! भगवान्‌के बलका भरोसा रख उनकी ही कृपाके आश्रित होकर निरन्तर मन–वाणीसे उनका नाम लेता रहे–

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होई रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ ! सो समरामहे।।

भगवान्‌पर विश्वास हो जाय, दूसरेपरसे आशा हट जाय, भगवान्‌का आश्रय लेकर भगवान्‌के नामका जप करता रहे–फिर क्या पूछना, बिना श्रमके वह संसारसे तर जाता है। जीवन थोड़ा है, विघ्न अनेक प्रकारके है। साधनाके उपयुक्त न स्थान है, न सामग्री है और न गुरू है। ऐसी दशामें सीधा मार्ग तो केवल भगवान्‌का नाम ही है। नामके जहाजपर 'उस पार' पहुँचना अत्यन्त सुगम है। इससे परे कोई साधना नहीं। मनको इधर–उधर न भटकने दें– भगवन्नामका दास होकर 'राम–नामके जपसे ही मनुष्य तर जाता है।' शर्त यह है कि भगवान्‌में पूर्ण विश्वास हो। किसी दूसरेकी आशा न हो और नाम न छूटे– फिर तो सारा काम सध ही गया।

यह इसलिये निवेदन कर दिया कि कहीं भक्ति–प्रेमकी आड़में आप कामादिको प्रश्रय न दें। साधनाके पथमें बहुत सावधानीके साथ चलनेकी आवश्यकता है। यह बार–बार निवेदन किया जा चुका है और बार–बार दुहरानेपर भी यह बात बासी नहीं होती – वह यह कि सावधानी ही साधना है।

भगवान्‌के चरणोंका ध्यान हो रहा था। वे चरण हमारे हृदयमें तभी बसते हैं, जब काम–क्रोधादि किसी प्रकारके विकार न रहें। भगवान्‌के चरण–चिह्नोंमे; जिनका उल्लेख पहले आ चुका है, उसके बाद चलता हूँ। भगवान्‌के चरणोंमें अग्निकुण्ड है, जिसमें भक्तोंके सारे पाप भस्म हो जाते हैं। जिसके हृदयमें ये चरण आ बसे, उसका सारा पाप भस्म हो गया। इसके सिवा भी यह अग्निकुण्ड यज्ञकुण्ड है, जिसमें संसारके सभी यज्ञ–याग पहुँचते हैं। हम जो भी आहुति देते हैं वह भगवान्‌के चरणोंमें ही पहुँचती है। सभी यज्ञोंके भोक्ता वे ही हैं–

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।

(गीता ५। २९)

देवताओंके रूपमें भी वे ही भोक्ता हैं। जो जिस रूपमें भक्ति करता है, उसी रूपमें भगवान् श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। भगवान्‌के चरणोंकी अग्नि बराबर जलती रहती है। उसमें भक्तके समस्त पाप स्वाहा हो जाते हैं। इस अग्निकुण्डका भाव भक्तोंके हृदयमें एक और है और वह है बड़ा मनोहर। जैसे गोपियाँ भगवान्‌के विरहमें जलती रहती है, उसी प्रकार भगवान्‌की विरहाग्नि भी जलती रहती है।

भगवान्‌के चरणोंमें जौ और तिलके चिह्न हैं। जौका भाव है– देव–कर्म और तिलका भाव है पितृ–कर्म। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लिये बिना कोई भी देवकर्म अथवा पितृकर्म सम्पन्न नहीं होता। उन कर्मोंमें जो कुछ भी अपूर्णता होती है, वह भगवान्‌के नामसे पूर्ण हो जाती है। गीताजीमें इसी को 'ॐ तत्सदिति' कहा है।

भगवान्‌के चरणोंमें त्रिकोणका जो चिह्न हैं उसका भाव हैं आदि योनि, जिसमें बिन्दु स्थापित होता है। यही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। उसीसे जगत् उत्पन्न होता है। इस त्रिकोणमें त्रिदेव– ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा त्रिगुण–(सत्, रज, तम –) का भाव भी है। इसके सिवा भी बहुत रहस्यपूर्ण भाव है। साधनाके सभी मार्गोमें त्रिपुटी होती है। भक्तिमें भक्त, भक्ति और भगवान् तथा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय। इन तीनोंकी एकता ही सच्ची प्राप्ति है और त्रिपुटीकी एकता इन चरणोंमे ही प्राप्ति है।

भगवान्‌के चरणोंमे जो 'नव कोश' हैं उनका भाव है नवधा भक्ति तथा नवग्रह। नवधा भक्ति तथा नवग्रह भगवान्‌के चरणोंके आश्रित है। इसके अतिरिक्त नौको चाहे जिस संख्यासे गुणा करें नौ–का–नौ ही होता है। नौसे १,२,३,४,५,६,७,८,९,१० से गुणा करनेपर जो भी गुणनफल होगा उसमेंसे प्रत्येकका योग ९ ही होगा। ९,१८,२७,३६,४५,५४,६३,७२,८१,९० में से किसीको जोड़े योगफल ९ ही होगा। सारे संसारका विस्तार उस 'एक' से ही है। वह रहता है, उतना ही उतना।

भगवान्‌के चरणोंमें ब्रह्माजी हैं। ये मूलसृष्टिकर्ता हिरण्यगर्भ हैं। उन्हींका दूसरा नाम मूल प्रकृति है। उन्हींसे वेद प्रकट होते हैं। ये भगवान्‌के चरणोंके आश्रित हैं। ब्रह्माजीका स्थान भगवान्‌के चरणोंमें कमलके पास ही हैं। कमल ही आदि पुष्प है। भगवान्‌के चरणोंमें ही निवासकर ब्रह्मा सृष्टिकी रचना करते हैं। इस प्रकार सारी सृष्टि मूलरूपसे भगवान्‌के चरणोंमें संनिहित है।

भगवान्‌के चरणोंमे शेषनागका चिह्न है। जिस शेषनागके मस्तकपर पृथ्वी स्थित है, उस शेषनागका आधार भगवान्‌के चरण–कमल हैं। शेषनाग हजार मुखोंसे भगवान्‌का गुणानुवाद कर रहे हैं। वे पृथ्वीको फूलके समान सिरपर लिये रात–दिन हजारों फणोंसे भगवान्‌की स्तुति करते रहते हैं।

भगवान्‌के चरणोंमे जो आश्वका चिह्न है उसका भाव यह है कि

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर जो जहाँ चाहे जा सकता है। आश्वमेघसे महापातकोंका नाश होता है। भगवान्‌के चरणोंके ध्यानसे हजारों अश्वमेधोंका पुण्य होता है। असंख्य अश्वमेघसे भी बढ़कर भगवान्‌के चरणोंका ध्यान है। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय जिन्होंने लिया उनकी अबाधगति हो जाती है ; जैसे–नारद आदिकी थी।

ऐरावत हाथीका चिह्न भी भगवान्‌के चरणोंमें है। ऐरावत चौदह रत्नोंमें एक है। वह इन्द्रका बाहन है। जो भगवान्‌के चरणोंको प्राप्त हो गया उसे इन्द्रत्व प्राप्त हो गया। गजराजकी एक टेरपर भगवान् दौड़े आये। गरुड़की गतिसे संतोष नहीं हुआ ; वे उसे छोड़कर उतर आये। गजका चिह्न भगवान्‌की भक्तवत्सलताका स्मरण दिलाता है।

गरुड़का चिह्न भी भगवान्‌के चरणोंमें है। गरुड़ तीव्र–गति का द्योतक है। इसके सिवा गरुड़ साँपों को खा जाता है। बड़े–से–बड़े विषधर विषय उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते, जिसे भगवान्‌के चरण प्राप्त हैं। भगवान्‌के चरण–कमलोंको हृदयमें बसा लेनेपर फिर विषयकी क्या हस्ती ?

भगवान्‌के चरणोंमें 'अष्टकोण' का जो चिह्न है, उसके सम्बन्धमें तन्त्र–ग्रन्थोंमें कई प्रकारके भाव आये हैं। यह आठों दिशाओंके अभिमन्त्रणका प्रतीक है। साधक अनुष्ठान आरम्भ करनेके पूर्व अपने इष्टदेवको अष्टकोणमें स्थापित कर पुनः आठों दिशाओंमें प्रतिष्ठापित करता है। वह आठो दिशाओंमें अपने भगवान्‌को ही देखता है। अष्टकोणका तात्पर्य अष्टसिद्धियोंसे भी है। जिसके हृदयकमलमें भगवान्‌के चरणकमल बसने लगे, उसे अष्टसिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती है, परंतु भगवान्‌के चरणोंको प्राप्त पुरुष अष्टसिद्धियोंकी ओर कभी देखतातक नहीं। उसका मन तो निरन्तर भगवान्‌के चरणोंमें रम रहा है। उसे सिद्धियोंकी ओर देखनेका अवकाश ही कहाँ है। अष्टकोणका एक और बड़ा मनोहर भाव है। जिसका मन भगवान्‌के चरणोंमें रम रहा है, उसके हृदयमें निरंन्तर आठों पहर भगवान् रम रहे हैं। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय जहाँ जिसने लिया कि भगवान् उसके हृदयमें आ बसते हैं, फिर क्या पूछना ?

भगवान्‌के चरणोंमें जो हरिणका चिह्न है, वह प्रेमियोंको बड़ा ही सुख देनेवाला है। हरिणका चित्त बड़ा ही सरल होता है। वह वीणाके मधुर स्वरपर अपने–आपको अपने पकड़नेवालेके हाथ दे डालता है,

मृत्युतककी परवाह नहीं करता। भक्त भी भगवान्‌के गुण–श्रवणमें इतना परायण हो जाता है तथा उसका चित्त इतना सरल होता है कि वह अपनी मृत्युतककी परवा नहीं करता। भगवान्‌का गुणानुवाद जहाँ सुननेको मिला, वह मुग्ध मृगकी भाँति सारी सुध–बुध भुलाकर तल्लीन हो जाता है।

नारदजीका निवास भगवान्‌के चरणकमलोंमें भी है। नारदजी प्रेमाभक्तिके प्रतीक हैं। भगवान्‌के गुण, भक्ति और प्रेमका प्रचार करनेंमें ही वे निरन्तर निरत हैं। भक्तिके तो वे आचार्य ही ठहरे। महर्षि वाल्मीकिको भगवत्प्रेरणा देनेवाले और श्रीरामायण–रचनाकी ओर प्रवृत्त करनेवाले ये ही देवर्षि हैं। श्रीवेदव्यासजी महाभारतका प्रणयनकर उदास बैठे थे। उनकी वाणीको श्रीमद्भागवतकी ओर प्रेरित कर देवर्षि नारदने भक्तिकी वह धारा बहा दी जिसमें आज भी स्नानकर हम पवित्र हो रहे हैं। इस प्रकार व्यासको शान्ति देनेवाले नारदजी ही हैं। भगवद्भक्तिमें श्रीशुकदेवजीको प्रवृत्त करनेवाले नारदजी हैं। देवताओंकी कौन कहें असुरोंतकमें वे भक्तिका प्रचार करते थे। प्रह्लादजी जब गर्भमें थे, तभी नारदजीने उन्हें भक्तिका इतना रस पिलाया कि संसारमें प्रह्लादकी जोड़ीका भक्त ही न हुआ। प्रह्लादकी जननी कयाधू भी भगवद्भक्तिपरायणा हो गयी ।

नारदजी जहाँ जाते है, वही वीणा हाथमें लिये भगवान्‌के गुण गाने लगते हैं और भगवान् वहीं उपस्थित हो जाते हैं। नारद भक्तोंके लिये आदर्श है। स्वयं प्रेमाभक्तिमें आत्मविस्मृत रहना; अहर्निश भगवान्‌के प्रेमकी ही चर्चा करना और जहाँ जाना वहीं भक्तिकी वार्ता करना। ऐसे ही भक्तोंको चरण–रज–प्रपन्न कहते हैं।

मनुष्याकृतिमें नारदजी, ब्रह्माजी और श्रीराधिकाजी भगवान्‌के चरणोंमें हैं। ब्रह्माजी तथा नारदजीके सम्बन्धमें निवेदन किया जा चुका है। अब श्रीराधिकाजीके भावपर आइये। राधाजी तो भगवान्‌के चरणोंका प्रतिबिम्ब हैं। राधाजीको जो भगवान्‌से भिन्न मानते हैं वे महान् पापके भागी हैं। श्रीभगवान् अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीको लेकर ही आविर्भूत होते हैं। उनके मधुर दिव्य विग्रहमें रसराज और महाभावकी अद्भुत एकता होती है। यह आनन्द–शक्ति ही भगवान्‌के प्रत्यक्ष विग्रह होनेमें हेतु है। आह्लाद ही आनन्दकन्द वपुको प्रकट करता है। भगवान् जहाँ जाते हैं वहाँ पहले ही राधाजी पहुँचती हैं ; क्येंकि उनका निवास भगवान्‌के चरण हैं। जिनके हृदयमें भगवान्‌के चरण निवास करते हैं उस हृदयमें श्रीराधाजी भी बसती

हैं और उस हृदयमें प्रेमाभक्तिका निरन्तर निवास होता है।

भगवान्‌के चरणोंमें दिव्य पीताम्बर भी है। इन चरणोंमें सारा विभूतियोग है। भगवान्‌के वस्त्र, आभूषण, आयुध, गुण आदि सभी दिव्य हैं और स्वयं भगवान् उन रूपोंमे हैं। अतः यह सभी चिन्मय हैं। बस, इस पीताम्बरका ध्यान हो गया कि मनुष्य निहाल हो गया। श्रीराधाजीका वर्ण कनकके समान है। वह पीताम्बर भी कनक–रंगका ही है। श्रीराधाजीका वर्ण भगवान्‌के पीताम्बरका है। भगवान्‌का वर्ण नीला है ओर श्रीराधाजीका वस्त्र नीलवर्ण हैं। राधाका अम्बर श्रीकृष्ण हैं और भगवान्‌का अच्छादन श्रीराधाजी हैं। पीताम्बर उच्च प्रेमकी अद्वैतावस्थाका प्रतीक हैं। इस पीताम्बरके नीचेसे भगवान्‌का दिव्य नील वर्ण छन–छनकर आ रहा है और उस दिव्य योगमें राधा और कृष्णकी सम्पूर्ण एकता झलक रही है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण बसते है, उसे महाभावकी प्राप्ति अत्यन्त सुगम हो जाती है।

भगवान्‌के चरणोंमे एक दिव्य पुरुष है। इसका सम्बन्ध योग–क्रियासे प्राप्त योगसंसिद्धिसे हैं। योगी लोग जब साधकपर प्रसन्न होते हैं, तब अपने शिष्यको एक पुष्प दिया करते हैं। वह पुष्प अप्राकृत होता है। वह योगपुष्प होता है। यह दिव्य पुष्प जिसे प्राप्त होते हैं, वही दिव्य हो जाता है। जहाँ योगीश्वरने दि य पुष्प दिया कि उसकी साधना पूर्ण हो जाती है। भगवान् तो योगेश्वरेश्वर है। यह दिव्य योगपुष्प इनके चरणोंमें होता है और जिसके हृदयमें ये चरण बसते हैं उसे योगकी सारी पूर्णता प्राप्त हो जाती है। उसकी समग्र साधना सफल हो जाती है। इस दिव्य पुष्पको कुछ लोग पारिजातपुष्प भी मानते है। कुछ भक्तोंने इसे कुमुदनी माना है। जिस प्रकार कुमुदनी चन्द्रमाको देखकर खिल पड़ती है, उसी प्रकार भक्तका हृदय भी भगवान्‌के मुखचन्द्र एवं नखन्द्रको देखकर खिल उठता है।

भगवान्‌के चरणोंमें छत्र है। छत्रके दो भाव है। ताप ओर उष्णसे बचनेके लिये छत्रका उपयोग होता है तथा आचार्यो और महाराजाओंके ऊपर भी छत्र रहता है। जिसे भगवान्‌के चरणोंका आश्रय मिल गया उसे विषयोंके अभावका ताप अथवा विषयोंकी बहुलताकी वर्षा कुछ नही कर सकती। विषयोंके नाशके समान मनुष्यके लिये कोई ताप नहीं। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्तिमक–ये त्रिविध ताप विषयोंके अभावका नाम

हैं। जिसने भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लिया उसे त्रिविध ताप सता नहीं सकते। मनुष्य विषयोंमें भीगा रहता है। इन चरणोंके आश्रयमें आ जानेसे ही विषयोंकी वर्षा बंद हो जाती है। उसे न विषयोंके नाशमें ताप होता हैं, न प्राप्तिमें आसक्ति होती है। जो भगवान्‌के चरणोंके आश्रयमें आ गया, उसके ऊपर देवता भी छत्र करते हैं। ऐसे पुरुषकी सेवा करके देवता भी अपनेको धन्य मानते हैं।

भगवान्‌के चरणोंमें 'बाजूबंद' का चिह्न है। बाजूबंद अलंकारोका भूषण हैं। यह एक प्रकारका कवच है। यह भूषण भी अप्राकृत है। इसके बिना श्रृंगार अपूर्ण हैं। जिसने भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लिया उसके सम्पूर्ण योग–क्षेमका भार भगवान् वहन करते हैं तथा वहीं व्यक्ति त्रिलोकीका परम भूषण हो जाता है।

भगवान्‌के चरणोंमें शंख हैं। शंख भगवान्‌का विशेष आयुध है। यह सदा विष्णुरूप भगवान्‌के हाथमें रहता है। शंख विजयका चिह्न हैं। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण रहते हैं, वह सबपर विजयी हो जाता है। उसके सारे विरोधी भाव शंख ध्वनिसे नष्ट हो जाते हैं।

भगवान्‌के चरणोंमें ऊर्ध्वरेखा है। जिस किसीके चरणमें ऊर्ध्वरेखा होती है, वह सामुद्रिक विज्ञानके अनुसार सदैव ऊँचेकी ओर बढ़ता जाता है। उस मनुष्यकी दृष्टि भी ऊँचेकी ओर हो जाती हैं। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण आ बसे, उसकी गति और दृष्टि ऊँर्ध्वहो गयी, वह सीधे ही गन्तव्य स्थानको पहुँच जाता है।

भगवान्‌के चरणोंमें राजा बलिका चिह्न है। भगवान् बलिको ठगने गये थें, परंतु अपने–आप ठगा आये और सदा बलिके द्वारपर रहना पडा ! भगवान्‌ने बलिके मस्तकपर अपने देवदुर्लभ चरण रख दिये–इतना ही नहीं, चरणोंमे ही बलिको स्वीकार कर लिया। बलिका शरीर भगवान्‌के चरणोंमें अंकित हो गया। इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात क्या हो सकती है ? बलिको पहले ऐश्वर्य–मद था। प्रह्लादने समझाया, पर बलि क्यों समझने लगते ? निदान, प्रह्लादने देखा कि बीमारी बढ़ गयी ; अतः भगवान्‌का स्मरण किया। भगवान्‌ने आकर बलिके सारे राज्य और शरीर तकको नाप लिया। भगवान्‌का व्यवहार शत्रुके साथ भी वैसा ही होता है जैसा मॉका बच्चेके साथ। भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, उसका धन हर लेते हैं और सांसारिक कार्यमें उस व्यक्तिको पूर्णतया असफल कर देते

हैं। संसार तो सफलताका ही पुजारी है, अतः उस असफल व्यक्तिपरसे आँखें हटा लेता है। असफल व्यक्तिके लिये घरवाले भी 'अपने' नहीं होते। उस घोर तिरस्कारकी स्थितिमें तीव्र वेदना होती है। उस वेदनामें भगवान्का सहज स्मरण होता है ; क्योंकि वे ही एकमात्र शरण्य रह जाते हैं। इस दशामें वह सर्वथा एकमात्र भगवान्का आश्रय लेता हैं। जैसा रोग होता है, भगवान् वैसी ही दवा देते हैं। बलिका सर्वस्व हरणकर लिया और सुदामाको सब कुछ दे दिया। बलिका राजमद हर लिया परंतु हरे गये स्वयं। अपने आप भगवान् बलिके दरवाजेपर सदा खड़े रहते हैं। बलिने अपनी पीठ नपवा दी। जो सब प्रकार अपनेको भगवान्के चरणोंमें समर्पणकर देता है, उसके साथ भगवान् सदा के लिये बस जाते हैं।

भगवान्के चरणोंमें दर्पणका चिह्न है। दर्पणमें प्रतिबिम्ब दीखता हैं। यह जगत् भगवान्का प्रतिबिम्ब है। यह सर्वत्र भगवान्–ही–भगवान् है। जो जितना ही सजकर दर्पणके सम्मुख खड़ा होता है उसे उतना ही अधिक भगवान् आनन्द देते हैं और वह छवि कई गुना करके लौटा देते हैं। छविको दर्पण रखता नहीं, वरन् आनन्दको बढ़ता है और छविकी उत्कृष्टताको बढ़ा देता है। दर्पण शोभा दिखलानेका निमित्त मात्र होता है। भगवान्को प्रेम देकर जो उन्हें सुखी करना चाहते हैं वे प्रेम और आनन्द प्रदान करनेवालेको ही कोटि गुना सुखी कर देते हैं। साधकके आनन्द ओर सुखको बढ़ानेके लिये भगवान् पूजा स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त दर्पणके सामने जो जैसा जाता है, दर्पण उसे वैसा ही रूप लौटा देता है। भगवान्के चरणोंमें जो जिस भावसे जायगा भगवान् उसका वह भाव उसी रूपमें प्रदान करेंगे। –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' जिसके जैसे कार्य होते हैं उसका फल भी वैसा ही होता है–दर्पणका यह भी एक भाव है।

भगवान्के चरणोंमें सुमेरुपर्वतका चिह्न है। सुमेरूका अर्थ है– जिसका मेरु सुन्दर हो। सुमेरुको सोने का पहाड़ भी कहते हैं। सुमेरुके बिना किसी वस्तुकी स्थिति नहीं। सूर्य भी सुमेरुपर ही उगते है। अतएव सुमेरू रात–दिनकी संधि है। सुमरु मालाको व्यवस्थामें रखनेवाला केन्द्र है। सुमेरू स्वर्णमय है। सुमेरुके अन्दर अनन्त धन–राशि छिपी है। जिसे भगवान्के चरण प्राप्त हो जाते हैं उसे सारी स्वर्ण–राशि प्राप्त हो जाती है। उसकी जीवनमाला व्यवस्थित हो जाती है। वह जीवन–मृत्युकी

संधिको समझ जाता है। इस सुमेरुको ही कुछ लोग गोवर्धन मानते हैं, जिसे भगवान्‌ने नखपर उठाया था। भगवान्‌ने उसे सदाके लिये अपने चरणोंमें बसा लिया है।

भगवान्‌के चरणोंमें घंटिका है। यह भगवान्‌की विशेष वस्तु हैं। करधनीमें भी छोटी–छोटी धंटी लगी रहती हैं। नूपुरके साथ यह भी बजती है। इसका तान्त्रिक अभिप्राय भी है। पूजामें यह अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। अनहद नादमें दस प्रकारके स्वर क्रमशः होते हैं। इसमें तीसरा स्वर घंटिकाका होता है। घंटी' 'क्ली क्लीं क्लीं' का उच्चारण करती हैं। यही श्रीकृष्णका महाबीज–प्रेम बीज है।

यह बीज घंटिकाके रूपमें आया हैं। इसीलिये पूजाका प्रधान उपकरण है। यह जगत्–प्रसविताका मूर्तिमान् आकार है। इसीलिये भगवान्‌के चरणोंमें इसे स्थान प्राप्त है।

भगवान्‌के चरणोंमें वीणाका चिह्न हैं। मुरलीको छोड़कर वीणा भगवान्‌की विशेष वस्तु है। उसे भगवान्‌ने नारदको प्रदान किया था। वाद्योंमें सबसे प्राचीन वीणा हैं। वीणामें सारे स्वर एक साथ है। यह आदिवाद्य हैं। गायनकी विभूतिरूपमें इसे भगवान्‌के चरणोंमें स्थान मिला है। वीणा भगवान्‌का नाम गाती है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण हैं उसे सर्वदा और सर्वत्र वीणाका स्वर सुनायी पड़ता है।

केलेका स्तम्भ ऊपरकी परत उतारनेपर जैसा चिकना और कोमल होता है वैसी ही भगवान्‌की जॉघ है। भगवान्‌की कटि सिंहकी–सी मानी गयी है। कमरमें वस्त्रके उपर तक तागड़ी है। यह भिन्न–भिन्न रूपोंमें भिन्न–भिन्न प्रकारकी मानी गयी है। भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें तथा मथुरा और द्वारकाकी लीलामें भी बालरूपकी माधुरी भिन्न प्रकारकी मानी गयी है। तागड़ी यों तो सोनेकी कही जाती है, पर वह सोना लौकिक सोनेकी अपेक्षा कुछ और चीज है। सोनेसे वह हल्का होता है, किंतु होता उससे कहीं अधिक बहुमूल्य है। आभूषणोंका बोझा भगवान्‌को नहीं मालूम होता; क्योंकि भगवान्‌के आयुध, आभूषण ओर वस्त्र भगवान्‌से भिन्न नहीं है, उन्हींके अंग–सदृश है। इसके अतिरिक्त उस सोनेमे एक बिजलीकी–सी चमक है, किंतु उससे ऑखें चौधियाती नहीं। उसका प्रकाश सौम्य,शीतल एवं स्निग्ध है।

करधनीके बीचमें लड़ें लहरदार हैं जो वस्त्रोंपर लटकती हैं और

उनके बीच–बीचमें एक–एक छोटी–छोटी घण्टिकाएँ हैं जो बजती हैं। घुँघरूकी तरह उनका मुख बन्द नहीं है। घण्टी स्वयं बजती है और उसका संघर्ष लटकनोंके साथ होनेसे उसमें और भी विलक्षण शब्द निकलता है। इसका शब्द दूरसे भी सुनकर गोपियोंको भगवान्‌के आनेका पता लग जाता था।

भगवान्‌के उदरमें तीन रेखाएँ हैं, जो एक प्रकारसे तीन देवताओं अथवा तीन गुणोंका रूप हैं।

भगवान्‌की नाभि पेंचदार है। उसे भी कमलकी उपमा दी जाती है। भगवान्‌की नाभिमें मानों संसारको उत्पन्न करनेका बीज है। इस नाभिमें सारा जगत् एवं उसके ज्ञान–(वेद–) को अपने अन्दर समेटकर लीन किये रहता है। संकल्प होनेपर वे बाहर आ जाते हैं। इसका आध्यात्मिक रहस्य भी है।

इसके ऊपर भगवानके स्तन है। महापुरुषोंके स्तनकी नोही–(चूकुक–) की जगह एक रेखा–सी होती है। भगवान्‌के स्तनोंमें अंग–वर्णसे विलक्षण एक श्यामता है। भगवान्‌का वक्षःस्थल बहुत विशाल है ; इसका आशय है कि उनका हृदय विशाल है। उसमें सबके लिये गुंजाइश है। महान्–से–महान् पापी अथवा क्रूर मनुष्यके लिये भी उसमें स्थान है। हृदय शरीरका प्रधान अंग है। बिना हृदयका मनुष्य मनुष्य नहीं कहलाता। भगवान्‌का हृदय हृदयहीनको सहृदय बना देता है। भृगुका प्रसंग इसका परिचायक है। भगवान्‌का अंग दर्पणके समान है। उसके साथ जो स्पर्शमें आता है, वह वहाँ अंकित हो जाता है। इसीलिये भगवान् भृगुलताको धारण करते हैं। यह वैष्णवताका चिह्न है। यह सारे अवतारोंमें होता है। शत्रुता रखनेवालोंके प्रति भी उनके हृदयमें स्नेह भरा रहता है। उन्हें भी मुक्त कर देना चाहते हैं। मातृ–हृदयमें भगवान्‌के हृदयकी एक छाया हैं। वे गुणोंको देखकर हमारे ऊपर प्रसन्न नहीं होते। भगवान्‌के मनसे भी शरण हो जानेपर भगवान् शरणागतके वशीभूत हो जाते हैं। वे उसे अपनानेके लिये दौड़ पड़ते है। पहलेकी बात तो देखते ही नहीं। गुण–दोषों को देखकर अथवा पूरी पूजा ग्रहण कर जो किसीको अपनाते हैं वे वास्तव में शरणागत–वत्सल नहीं हैं।

'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः'।

आमिषभोजी गृध्रको भगवान् पिताकी भाँति अञ्जलि देते हैं। मर्यादापुरुषोत्त्तम होते हुए भी वे गुहसे गले लगकर मिलते हैं। शबरीके वेर खाते हैं। भगवान्‌के हृदयकी कोमलताकी झलक कुछ-कुछ उनके सन्तोंमें देखनेको मिलती है। सन्तोंके हृदयको नवनीतकी उपमा दी गयी है। उनके अवतारका हेतु भी उनकी दया ही है। भक्तके दुःखको देखकर भगवान् ठहर नहीं सकते। गजेन्द्रके आख्यानमें इसका बड़ा अच्छा दिग्दर्शन होता है। भगवान्‌के सम्मुख जो गया उसका उद्धार हो गया– *'सम्मुख होई जीव मोहि जबहीं। कोटि जन्म अघ नासहिं तबहीं।'*

भगवान्‌का कण्ठ शंखका-सा माना गया है। कौस्तुभ, श्रीवत्स, वैजयन्ती–ये सब विग्रहोंमें होते है। इनके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्ण वनमाला धारण करते है। उसमें गूथे तुलसी आदिके पत्ते भी खोसें रहते है। अनेक रंगकी मिट्टी भी वे अपने शरीरमें पोते रहते है। उसकी कुछ विचित्र आभा होती है। मुक्ताहार, गुञ्जाकी माला तथा पत्तोंकी माला है।

मुरलीधर द्विभुज हैं। बायें हाथमें बेंत और दाहिने हाथमें मुरली हैं। मुरलीमें छेद है, दोंनो हाथोंमें कंकण और फूलोंके गजरें हैं तथा बाहुओंमें बाजूबंद है।

होठ बिम्बाफलके समान हैं। हँसी भी दो प्रकारकी है–उच्च हास्य और मुस्कराहट। मुस्कुराहट सदा रहती है क्रोधकी अवस्थामें भी उनकी मुस्कुराहट बनी रहती है। संहार करते समय भी वे हँसते रहते हैं।

दन्तपंक्तियाँ उनकी बड़ी श्वेत और प्रकाशयुक्त हैं। ओठोंकी आभासे मिलकर धवलिमा अत्यन्त शोभाको धारण करती हैं।

नाकमें बुलाक रहता है। मुख, नासा, नेत्र, मस्तक और कर्ण मुखकी शोभाके लिये होते हैं। भगवान्‌का मुख तनिक-सा लम्बा (ऊपरकी ओर) और बाकी गोल है। कपोल न पिचके हैं और न उभरे हुए है। कपोलोंपर चार आभाएँ और आती है। बिखरी हुई अलकावलीकी छाया, कुंडलोंकी आभा, सिरपरके मुकुटकी और नेत्रोंसे सदा निकलनेवाली ज्योंति–ये सब उसपर पड़ती हैं। नासिका अग्रभागपर कुछ मुड़ी हुई है।

नेत्र रक्तकमलके-से हैं। अरुणिमा उनकी खास चीज है। वे गुस्सेकी-सी लाल नहीं हैं। उनकी ललाई स्वाभाविक है। क्रोधमें तो रक्त नीचे उतर आता है।

भृकुटी इतनी सुन्दर है कि उसके देख लेनेपर काम-नाश हो

जाता है। नेत्र–रोम घने, काले और साफ हैं। नेत्र बड़े कटीले है। उनके सौन्दर्यकी कोई उपमा नहीं है। भगवान्‌का सबसे सुन्दर अंग नेत्रोंके नीचेका मुखभाग है।

मस्तक बड़ा विशाल है, उसपर वल्लभसम्प्रदायवालोंका–सा तिलक है। उसके ऊपर रत्नका मुकुट है और उसपर मोरका चँदवा है।

कर्म आलस्यसे अच्छा है। परंतु कर्मका आधार यदि केवल कर्म है तो वह बन्धनका कारण है। केवल यथार्थ कर्म मुक्तिका देनेवाला है। कर्मका आधार भगवान्‌को होना चाहिये। कर्मका आधार भगवान् तभी हो सकते हैं जब सब समय भगवान्‌का स्मरण होता रहे–

'योगस्थः कुरु कर्माणि' तथा फलमें भी भगवान् हों–

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको वे ही कर्म करने चाहिये जो भगवान्‌के स्मरणमें सहायक हों ; चाहे वे लौकिक दृष्टिसे कितने ही नीच अथवा राजसिक ही क्यों न हो। इसके विपरीत जो कर्म सात्विक होनेपर भी हमारी केवल कर्ममें आसक्ति बढ़ाता है, वह त्याज्य है। सत्य, अहिंसा आदि व्रत भी यदि भगवान्‌से शून्य हैं तो उनसे काम नहीं बनेगा। **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** इन्हीं धर्मोके सम्बन्धमें लागू होता हैं भगवान्‌से शून्य उँचे–से–ऊँचा काम भी नीचा है। इसी प्रकार भगवत्सेवाके रुपमें यदि झाडू लगानेका काम भी किया जाय तो वह बहुत ऊँचा है। यदि निरंतर भजन होता रहे तो फिर यदि कर्म छूट भी जाय तो कोई हानि नहीं। उसे समय समझना चाहिये कि कर्म आज सफल हो गये। उनका काम पूरा हो गया ; क्योंकि कर्मोका फल भगवान्‌का भजन ही है। मनुष्य प्रपञ्चमें इतना फॅसा हुआ रहता हैं कि वह यह समझता है कि मेरे बिना अमुक कार्य होगा ही नही, घरवालोंका पालन–पोषण कौन करेगा ! किंतु जबतक शरीर स्वस्थ है तबतक भजन कर लेना चाहिये, फिर मृत्यु आ जानेपर बात हाथकी न रहेगी। शरीर रुग्ण हो जानेपर भी हम कुछ नहीं कर सकते। फिर पछतानेसे कुछ काम नहीं चलेगा। हमें प्रतिपल अपने उद्‌देश्यको सँभालते रहना चाहिये और देखते रहना चाहिये कि हम ठीक रास्ते–भगवान्‌के रास्तेपर हैं या नहीं।

दूसरी बात यह हैं कि किसीको छोटा न समझें, किसीका अपमान न करें, किसीका जी न दुखायें, किसीको कुछ सतावें नहीं, किसीका

अहित न करें, कोई प्राणी घृणाका पात्र नही है।, चाहे वह पापी हो, शत्रु हो चाहे हमें दुख देनेवाला हो। अपने रामको, अपने कृष्णको सर्वत्र देखना चाहिये। उन्हें सारे जगत्में आत्मारूपसे सर्वत्र देखना चाहिये। वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना अच्छा है। परंतु अपनेसे छोटे अपने नौकरको भी छोटा मानना और उससे घृणा करना बड़ा पाप है।

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके वर्ण, प्रकाश और सुगन्धके सम्बन्धमें कुछ बातें हो चुकी है। देखें, भगवान्के अंगका ऐसा सौन्दर्य है कि उसका वर्णन हो ही नहीं सकता ; क्योंकि जगत्का सारा सौन्दर्य उसके सौन्दर्यका एक कणमात्र है। उनके अंगका सौन्दर्य ऐसा आकर्षक है कि देवता, ऋषि, मुनिलोगोंके मन को भी मोहित कर लेता है। सनकादिकोंने भगवान्के चरणोंमें की हुई तुलसीकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा कि हम भी इसीके सदृश हो जायें ; क्योंकि ये चरणोंकी गन्ध लेनेसे तृप्त नहीं होती।

भगवान्के आभूषण भी भगवान्के अंग ही है, क्योंकि ये सब चेतन है। सत् है और सुगंधपूर्ण है। पहले मुरलीकी बात ही कर लें। मुरली बड़ी आकर्षक है। उसका स्वर जिसके कानोंमें पड़ जाता है वही मोहित हो जाता है। कहते हैं कि जिस समय वृन्दावनमें शरदपूर्णिमाकी रात्रिमें भगवान्की मुरलीबजी उस समय सब लोकोंमें जाकर उस ध्वनिने सबको मुग्ध कर दिया। ब्रह्मा, शिव आदिक मुग्ध हो गये ओर सबकी तो बात ही क्या हैं, केवल गोपिकाएँ ही नहीं खिचीं, किंतु सब–के–सब खिंच गये। गोपिकाओंको सशरीर उस स्थानपर पहुँचनेका अधिकार था, अन्य सबको देखनेमात्र ही। चन्द्रमा, नक्षत्रादि सबकी क्रिया ६–६ महीनेंतक बन्द हो गयी। किसीको पता भी नहीं लगा कि कितना समय बीत गया। इन सबका कारण थी मुरलीकी ध्वनि। जितने सूखे तरु–पल्लव थे उनमेंसे रस झरने लगा। जितने वहाँ प्राणी थे, अचल हो गये। जिस बछड़ेने गायके स्तनकों मुँहमें ले रखा था, उसका दुग्ध–पान करना बन्द होकर ज्यों–का–त्यों स्तब्ध हो गया। जिस मयूरने ऑख खोल रखी थी उसी पलक नहीं पड़ी। इस प्रकार उस ध्वनिका असर हुआ। प्रकृतिका कर्म भी बन्द हो गया। सम्पूर्ण गोलोक वहाँ उतर आया। मुरलीने जिन–जिनको आह्वान किया उन सबकी किया बन्द होकर जैसे थी उसी अवस्थामें दौड़ पड़ी, किसीको कुछ भी संकेत नहीं कर सकी। किसीके हाथमें ग्रास था तो कोई नेत्रोंमें अंजन दे रही थी, कोई वस्त्र या आभूषण पहन रही थी,

उसे वैसे ही बीचमें छोड़कर दौड़ चली। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि जब श्रीभगवान्का आह्वान होता है तब कोई रुक नहीं सकता। उस मुरलीकी ध्वनिने प्रेमका प्रवाह बहा दिया—**'तदनंगवर्धनम्'**। किंतु यह काम अन्य है—यह भी भगवान्के मिलनेकी आकांक्षका काम है। जैसे श्रीभगवान्की सब वस्तुएँ नित्य हैं उसी प्रकार मुरली आदि भगवान्की सब वस्तुँए नित्य है। वह मुरली आदि भगवान्की सब वस्तुएँ नित्य हैं। वह मुरली जिस बॉस की थी वह बॉस बननेकी आकांक्षा गोपियोंने की। दूसरे तो भगवान्से मिलना चाहते हैं, किंतु मुरलीको भगवान् ही छोड़ नहीं सकते। मुरलीके समान आत्मसमर्पण किसीका नहीं हैं। यह आध्यात्मिक विवेचन है। उसने अपने सब अंगको पोला बना दिया था। जैसा स्वर भगवान् उसमें भरते वैसे ही वह बजती। उसने अपना सम्पूर्ण अहंकार त्याग दिया था। उसे किसी प्रकारकी चाह नहीं थी। मुरलीके अंदर अपना कुछ रहा ही नहीं। जो अपने सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्के अर्पण कर देता है, सम्पूर्ण हृदय भगवानके लिये खाली कर देता है, उसीके हृदयमें भगवान् अपना आसन जमा लेते हैं। यह काम—बीज है जो यह 'क्लीं' शब्द है ; वह मुरलीका रूपान्तर है। जो सारा—का—सारा भगवान्के लिये चाहता हैं वह भगवान्का प्रेम है। भगवान्के स्वरकी महिमा नहीं कही जा सकती। कोयलके बच्चे आदि कोंके सारे—के—सारे स्वर उसके कणमात्र है। भगवान्का स्वर अति सुरीला है, किंतु उस मुरलीका स्वर अति ही विलक्षण है। उसमें केवल माधुर्य रस है, अन्य स्वरोंमें सब प्रकारके रस हैं जैसे **'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'** यह स्वर सुनकर अर्जुन कॉप गया। जो इस मुरलीका स्वर सुनने के अधिकारी हैं उन्हींके कानोंमें वह स्वर सुनायी देता है। मुरली वृन्दावनमें ही बजती है। जहॉ माधुर्य रस रहता है वही मुरली बजती है। पाञ्चजन्य कुरुक्षेत्रमें बजता है, पर मुरली वहॉ नहीं बजती। एक कवि कहता है—एक दिनके १०—११ बजेका समय था। भगवान् व्रजसे लौटकर घरकी तरफ आये। हमेशा तो सन्ध्या—समय आते थे—आज भोजन करनेके समय आ गये। यह मुरलीका शब्द सुनकर एक गोपी कहती है—

'मुरहररन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्' कि इस समय इसे तो न बजाया करो; क्योंकि इसकी आवाज सुनकर सूखी लकड़ीमेंसे भी पानी चूने लगा, जिससे आग बुझ गयी ।

व्रजमें एक नयी गोपी आयी—

मच्चिता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां ....।

—ये सब बातें गोपिकाओंमें चरितार्थ हुई थीं।

"या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप..........कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।'

उस नयी आयी हुई गोपीसे सास, ननद, अड़ोस–पड़ोसकी सब स्त्रियाँ पूछती हैं कि तूने श्यामसुन्दरको देखा या नहीं। उसने कहा—क्या उसमें अनोखी बात है। मैंने गाँवके बहुत–से बालक देखें है। जब श्यामसुन्दर सन्ध्या–समय लौटे उस समय वह नवीन गोपी दीपक जला रही थी। उसके कानमें मुरलीकी मीठी आवाज आयी, जिसे सुनकर वह बेसुध हो गयी। दीपककी जगह उसकी अँगुली जलने लगी, जिसकी भी उसे सुधि ही नहीं। यह स्वर 'श्रवण–मंगल' है। उससे तृप्ति नहीं है। अर्जुनने भी गीतामें ऐसा ही कहा था। मुरलीका स्वर बड़ा मधुर होता है। जितना निर्मल स्वर मुरलीके द्वारा होता है उतना अन्यका नहीं। यह तो मुरलीके स्वरकी महिमा है। आज स्वयं उस मुरलीकी क्या महिमा हैं कि उसके एक क्षणके वियोगको भगवान् सह नहीं सकते। जिसको भगवान्‌के हाथका स्पर्श प्राप्त है उसकी भी कोई महिमा कही नहीं जा सकती। तब जो मुरली श्रीभगवान्‌के अधर ओष्ठोंका रसास्वाद–पान करती थी, उसकी महिमा कौन वर्णन कर सकता है। यह भगवान्‌के संयोगकी महिमा है। गोपियाँ भी मुरली बननेके लिये तरस्ती रहीं, किंतु बन न सकी।

मुरलीमेंसे प्रेम और ज्ञान दो प्रकारके स्वर निकलते हैं। जो प्रेमके अधिकारी नहीं हैं उन्हें ज्ञानका स्वर दवा लेता है। एक समयकी बात है—ऋषिलोग वनमें यज्ञ कर रहे थे, भगवान्‌ने मुरली बजायी, किंतु ऋषिलोग उसे न सुन सके। उनकी पत्नियोंको वह स्वर सुनायी पड़ा ; क्योंकि वे प्रेमकी अधिकारिणी थी। जब ये स्त्रियाँ भगवान्‌से मिलकर आयीं तब वे ऋषिलोग उन्हें देखकर अपनेको धिक्कार देने लगे।

'धिक्कुलं धिक्कायाशीलम्—'

भगवान् जैसी ध्वनि निकालना चाहते हैं वैसी ही निकलती है, जिसे सुनाना चाहते हैं उसे सुनायी देती है। सामवेद भगवान्‌का ज्ञान–गान है, जिसकी रचना हुई। किंतु भगवान्‌के प्रेम–गानकी रचना नहीं हो

सकती। मुरलीका बड़ा साहित्य है। संस्कृत और हिन्दीके कवियोंने मुरलीयर बहुत लिखा है।

सूरने 'मुरली ! कौन तप तू कियों,........'मुरली तौउ गोपालहि भावति।' आदि अनेक पद रचे है।

भगवत्–लीला–चिन्तन कैसे हो !

जगत्के बन्धनसे मुक्त होनेके लिए निःसंकल्प होना बहुत आवश्यक है। जबतक जगत्के संकल्प होते रहते हैं, तबतक मनकी जागतिक क्रिया बंद नहीं होती ; परन्तु मनका निःसंकल्प होना सहज बात नही है, फिर भी निःसंकल्प होनेका एक दूसरा बहुत सीधा रास्ता है– संकल्पोंसे लड़ना छोड़ दे, संकल्पोंका विषय बदल दे। जगत्के स्थान पर भगवत्–संकल्प करे। भगवान्का लीला–गुणानुवाद, श्रवण, पठन, मनन किसलिये ? क्या व्यासजी– जिन्होंने वेदोंका विभाग किया, ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की, जो ब्रह्मसूत्र समस्त वेदान्तवादियोंके आदर्श हैं, वे इतने निकम्मे बैठे थे कि वेदान्तका परिशीलन छोड़कर वे लीला–कथाका गान करें ! क्या नारदजी इतने अल्पबुद्धि व्यक्ति थे, जो व्यासजीको शान्ति प्राप्त करनेके लिये लीला कथाका गान करनेका अनुरोध करें। परंतु व्यासजी अपनेको अशान्त पाते हैं। यद्यपि संकल्पोंका अभाव व्यासजीमें स्वाभाविक माना जाता है, क्योंकि व्यासजी भगवदावतार हैं, वेदान्त सूत्रोंके निर्माता हैं, उनमें संकल्प क्यों हो ? तथापि वे अशान्त हैं। नारदजी कहते हैं कि आपको शान्ति इसलिये नहीं मिली कि आपने ज्ञान–विज्ञानका निरूपण किया, परंतु भवगत्–लीला–रसका पान न किया, न कराया, इसीलिये आपका चित्त अशान्त है।

इससे तो बस यही समझना चाहिये कि ये व्यास, शुकदेव,

वसिष्ठ और नारद आदि ऐसे साधारण लोग नहीं थे जो बहुत ऊँची चीजको छोड़कर नीची चीजकी ओर चलें, परन्तु हमारा मन तो प्राकृतिक मन है। और अमलात्मा मुनियोंका मन तो मनोनाशके द्वारा मिट चुका है। उस मिटे हुए मनके स्थानपर भगवानके गुण, सौन्दर्य आदिका चिन्तन करनेके लिये जो मन बनता है, वह भगवान्का दिया हुआ मन बनता है।

उत्तम साधन यह है कि आप केवल भगवत्–सम्बंधी संकल्प करें। जैसे संध्याका समय है, बछड़ोंको लेकर भगवान् लौटेंगे। भगवान्के आगमनकी प्रतीक्षा करें कि भगवान् आ रहें हैं, अभी–अभी भगवान् आनेवाले हैं– इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए खड़े हो गये। अब मनमें वही भाव, वही संकल्प–विकल्प आते रहें– अब वे बछड़ोंके पीछे आते होंगे। अब मुरली बजाते होंगे। उनकी लीलाओंका अन्त नहीं है। अपने मनमें जैसी लीला जब आवे किसी क्रमका बन्धन नहीं हैं कि अमुक प्रकारके क्रमसे ही भगवान्की लीलाका चिन्तन हो। जब जैसी मनमें आवे भगवान्की लीलाओंका संकल्प–विकल्प मनमें होता रहे ; फिर तो मनमें यही चिन्तन रहेगा कि हम भी खेलें, हमको भी भगवान् अपना परिकर बना लें। यह साधनाकी बात है।

निकुंज–साधनकी बात मोटे–रूपमें कह देना है। निकुंज साधनामें क्या करना पड़ता है । इसमें संकल्पज देहका, सेवाका निर्माण होता है। पहले तो संकल्प करना पड़ता है– 'भगवान्के मण्डलमें निकुंजका जो मंडल है बड़ा विस्तृत है और उसके बहुत–से स्तर हैं, उनमें एक मंजरी–मण्डल है। यह जो मंजरी–भाव है, बड़ा ऊँचा भाव है। उसमें निज–सुख का अभाव है। वे केवल राधा–माधवका सुख–सम्पादन करनेमें ही लगी रहती हैं, उन्हें अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। उन मंजरियोंमेंसे किसी–एकको भावराज्यमें भावसे आचार्यत्वके पदका वरण करें–गुरू मानें। अपनेको संकल्पसे किसी मंजरी–देहमें ले जायँ, मंजरी कल्पना करें। मंजरीमें, उसके रूप–रंग इत्यादिकी बहुत–सी बातें हैं, जिन्हें यहाँ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। मंजरी–कल्पना करें और उक्त गुरू–मंजरीके साथ सेवामें हिस्सा मिले ऐसी प्रार्थना करें तथा यह प्रार्थना उस भावराज्यमें संकल्पसे ही जब स्वीकार हो जाय, तब सेवा प्रारम्भ करें। पहले बाहरकी सेवा प्राप्त होगी। कहीं निकुंजके बाहर झाड़ू इत्यादि लगा दी जाय, कहीं कुछ कंटक साफ कर दिये जायँ। पीकदानीको लेकर फेंक दिया जाय।

ये बड़े लोगोंकी बातें नहीं जो बड़े ज्ञान–निष्ठित हैं– उनके लिए तो ये चर्चा पागल लोगोंकी चीज है। ऐसा करते–करते क्या होगा, उसे मंजरीत्व प्राप्त होगा, पहले कल्पना–राज्यमें तत्पश्चात् भावराज्यमें । इसके लिए बड़े शास्त्र हैं। एक रासोल्लास–तन्त्र है, उसमें बड़ी विधि है और केवल विधिसे काम नही चलता, विधिवत् साधनामें प्रवृत्त होना पड़ता है, फिर क्या होता है कि मंजरी–देहकी प्राप्ति हो जाती है। पहले कल्पना–मंजरी, फिर भाव–मंजरी, फिर मंजरी देहकी प्राप्ति हो जाती है। इस देहके रहते जब कभी–कभी ऐसी तीव्र इच्छा हो, या जब वहाँकी आज्ञा हो, तब उस गुरू–मंजरीका अनुकरण करते हुए जो सेवा बतायी जाय उस सेवामें वह साधक नियुक्त हो जाता है। फिर ऐसा होते–होते उस मंजरीके साथ उसको निकुंजमें प्रवेशका अधिकार मिल जाता हैं।

यह निकुंजमें प्रवेशका अधिकार मामूली चीज नहीं है। जो पुरियोंका अन्तःपुर है उसमें भी सबका प्रवेशाधिकार नहीं है। जैसे–मथुरा, द्वारका, अयोध्या इत्यादि– ये भगवान्की लीला–पुरियाँ हैं। व्रज तो वन है, गोष्ठ हैं, वृन्दावन है। यहाँके निकुंज दो प्रकारके हैं, धातुनिर्मित निकुंज और रत्ननिर्मित निकुंज । इसके अतिरिक्त बहुत–से निकुंज यहाँ लता–पुष्पनिर्मित हैं। यहाँका अधिकार मिलना तो बहुत कठिन बात है। पुरियोंके अन्तःपुरमें सबको प्रवेशका अधिकार नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें जब संजय जाते हैं तो वहाँ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान्के उस अन्तःपुरमें प्रवेशका अधिकार प्रद्युम्न तथा अभिमन्युको भी नहीं है, जो कि पुत्र हैं, संजय इत्यादि जो भगवान्के विशिष्ट अंतरंग सहचर हैं ; इन्हें मंजरी–स्थानापन्न ही समझिये। इनको अन्तःपुरमें प्रवेशका अधिकार है। उसने वहाँका दृश्य देखा। अर्जुन, श्रीकृष्ण, सत्यभामा और द्रोपदीकी अंतरंग–लीलाका दृश्य। निकुंजमें प्रवेशका अधिकार हर एकको नहीं होता। इसमें प्रवेशका अधिकार जिस मंजरी–देहसे प्राप्त हो जाता है, उसे वैष्णव साधनामें बहुत ऊँचा स्थान माना जाता है।

इसलिये संकल्पका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवत्–लीला–सम्बन्धी और उनमें भी सर्वोत्तम निर्दोष बाल–लीला है–भगवान्का बाल–चरित। भगवान्के प्राकट्यसे लेकर गोवर्धन उठानेतकका जो बाल–चरित है, वह सर्वथा निर्दोष, सबके कामकी चीज, घरमें देखी हुई, अपने बच्चोंकी क्रीड़ा, उसीमें भगवान्को देखे। विशेष कुछ करना–कराना

नहीं है। इस तरहके संकल्प होने लगें तो क्या होगा ? कुछ दिनों बाद ऐसे ही दृश्य आने लगेंगे। यह करके देखनेकी चीज है। यह वही कर सकता है जो करना चाहे। यदि मनमें तीव्र आकांक्षा पैदा हो जाय तो इस सीधी चीज–घरमें देखी हुई चीजका हम भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ सकते है। फिर क्या होगा कि हमें अकल्पित लीला–दर्शन होने लगेंगे। इस प्रकारकी लीला चलते–फिरते, उठते–बैठते, सोते–जागते– हर समय हमारे मनमें आने लगेगी। ध्यान करना नहीं पड़ेगा, लीलाके वे दृश्य जबरदस्ती सामने आने लगेंगे ; पर आने लगेंगे उनके सामने जो उनकों पकड़ना चाहे। उपेक्षा करेगा तो वहाँ मनमें नहीं आयेंगे और यदि कहीं मनमें यह हो जाय कि आज तो बड़ा हर्ज हो गया। बड़ा जरूरी काम था। तो भगवान् तो किसीका भी जरूरी काम छीनना नहीं चाहते। जब भगवान्‌की जरूरत पैदा हो तब भगवान्‌को पुकार लेना। भगवान् तो हर समय तैयार हैं।

गोपागंनाओंकी क्या कम परीक्षा हुई, ये परीक्षा मामूली परीक्षा नहीं थी, लेकिन वे इसमें उत्तीर्ण हो गयी। इस प्रकारके प्रलोभन, भय सामने आते हैं। रासमण्डलकी परीक्षा मामूली परीक्षा नहीं थी। भगवान् कहते हैं– 'नरकमें जाओगी, पतियोंको छोड़कर आयी हो, ये किसी पतिव्रता स्त्रीका काम नहीं हैं।' स्वयं भगवान् कहते हैं, कोई दूसरा नहीं कहता हैं, कोई भी व्यक्ति उसी वक्त डर जाय, काँप जाय। सबसे बड़ी परीक्षा होती है स्वसुखकी। यह बड़ी महीन चीज है। मान लेते है कि स्वसुखकी वाञ्छा नहीं है, लेकिन स्वसुख की वाञ्छा ही वहाँ काम करानेमें लगी रहती हैं। ये तो पीछेकी चीजें है। हम तो बहुत पहलेकी बात कहते है कि मनमें भगवान्‌का संकल्प करें। आत्माका स्वरूप क्या हैं, कैसा है– ये जाननेकी आवश्यकता नहीं हैं। ये जिसको जितना जाननेकी आवश्यकता होगी ; वे जना देंगे और नहीं जनाना चाहें तो कहेंगे कि भई ! तुम ज्ञानवान हो, जहाँ जाते हो, वहाँ तुम्हें ले चलेंगे, तुम इनको जानकर क्या करोगे ? भगवान् तो कहते हैं–''सर्वधर्मान् परित्यज्य०'' मेरी शरणमें आ जा मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। लेकिन संकल्पोंका सब तरहसे विनाश होना मामूली बात नहीं है। यदि जगत्‌का संकल्प आ गया तो जगत्‌का चिन्तन त्यागके लिये भी न करे। यह मनोवैज्ञानिकोंका सिद्धान्त है कि त्यागके लिए भी त्यागके योग्य वस्तुका चिन्तन अधिक न करें, क्योंकि

इससे त्याग तो होगा नहीं, उल्टे उस वस्तु का चिन्तन करते रहनेसे वह वस्तु मनके संकल्पमें आ जायेगी। इसलिए संकल्पोंके विषयको बदलना होगा। प्राकृत संकल्पोंके स्थानपर भगवत् संकल्प लाने होंगे। भगवान्‌का चिन्तन किसी प्रकारसे चित्तमें आवे। गीताके विभुतियोगमें भगवान्‌ने एक जगह कहा–

द्यूतं छलयतामस्मि ।

–जुआ बताया अपनेको। किसी भी मनु, याज्ञवल्क्य या पराशरस्मृतिमें कहीं भी जुएका समर्थन हो तो बताइये ! पर भगवान् कहते हैं कि' मै जुआ हूँ। क्यों कहते हैं ? किनमें जुआ मैं हूँ– छल करनेवालोंमें **'छलयताम्'**। जुआरियोंसे कोई कहे कि गीताभवनमें बैठों, अमुक–अमुक स्थानसे महात्मा आये हैं, जाकर उनके उपदेश सुनो, तो उन्हें फुरसत नहीं हैं। पर वे यदि कहते हैं– भइया एक काम करो–जुआ खेलते हो ? हाँ खेलते हैं। पासा फेंकते हो ? हाँ फेंकते हैं। तो प्रत्येक पासेमें कहो– ये जुआ भगवान्, तो भगवदाकार–वृत्ति हो गयी। भगवदाकार–वृत्तिं हुई कि जुआ छूटा। करना भी यही है। भगवदाकार–वृत्ति होनी चाहिये। इस प्रकार जुआरीकी वृत्ति भगवदाकार हो गयी। भगवान् थे ही कोई झूठी बात तो नहीं । अतः संकल्पोंमें भगवत्–सम्बंधी विषयोंको लानेकी चेष्टा करनी चाहिये। सीधी बात यह कि इन्द्रियोंमें आनेवाले भगवान्‌के सौन्दर्य–माधुर्यका संकल्प करें। बड़ा सुन्दर भगवान्‌का सौन्दर्य। जैसा–जैसा अपने मनमें आवे, उसी प्रकारके भगवान्‌के सौन्दर्यकी कल्पना करें । उस कल्पित रूपको बार–बार अपने मनमें देखें। उस रूपमें मन लगे तो उनकी लीलाको देखें–

अरे खेल ही रहे हैं– गुल्ली डंडा खेल रहे हैं, आँख मिचौनी खेल रहे हैं, सखाओंके साथ खेल रहे हैं ये जो भगवान् हैं ; बड़ी ठोस चीज हैं और सब चीज तो तरल है, उड़नेवाली है, केवल हवा भरी है। भगवान्‌को मनमें भरने लगों, बेकारकी हवा अपने आप निकलने लगेगी। भगवान् भर गये हवा निकल गयी। भगवान् मनमें जितना भर जायँगे उतना निकलेंगे नहीं। भगवान्‌को पकड़ना आसान है, छोड़ना आसान नहीं हैं। भगवान् पकड़ना जानते हैं, छोड़ना नहीं ज़ानते। मनमें भगवान् जितना भर गये उतना स्थान उन्होंने ले लिया, जो उनके अधिकार आ गया वे उसके सदाके लिये मालिक बन गये। इसलिये भगवत् सम्बन्धी संकल्प जैसे–जैसे मनमे आवे उसी प्रकार करता रहे। इससे

भगवत्–संकल्पका मन हो जायेगा– उसकी प्रवृत्ति दृढ़ हो जायगी। मनकी एक बड़ी सुन्दर स्थिति यह है कि यह तदाकार होना जानता है और जिसमें लगाया जाता है उसीके आकार बन जाता है–तदाकार ही हो जाता है। ब्रह्माकार भी, विषयाकार भी।

मनको भोगसे हटाकर भगवान्में लगाना है। अभी तो ऐसा हमारा बुरा अभ्यास है कि भोगोंमें पद–पदपर दुःखका अनुभव हो रहा है, तब भी हम उन्हींकी ओर खिचते जाते हैं। लेकिन भगवत्–सम्बन्धी संकल्प करनेका रस मनको चखा दिया जाय तो मन वह रस अपने–आप लेने लगेगा। चित्त चाहता है शान्ति, चित्त चाहता है आनन्द, चित्त चाहता है द्वन्द्वरहित सुख। ऐसा सुख आत्यन्तिक नित्य–पूर्ण–सुख सिवाय भगवान्के और कहीं नहीं है। जो सुखस्वरूप–आनन्दरूप भगवान् हैं, उन भगवान्के सम्पर्कका सुख जब चित्तमें ठहरने लगे तो अपने–आप उसमें एक नवीन सुखकी अनुभूति होने लगेगी जो अत्यन्त विलक्षण होगा। जिसने बहुत कमजोर एवं पतली–सी बत्तीकी रोशनीमें रहनेका अभ्यास डाला हो तो एक बार तो बिजली देखकर वह चौंधिया ही जायगा। उसे उस रोशीनका अनुभव ही नहीं है, लेकिन जब बिजली देख लेगा, उसका प्रकाश मालूम हो जायेगा, तो सोचेगा इसमें न बत्ती चाहिये, तेल चाहिये, न दीपक चाहिये और न हवाका भय। अब इतनी अच्छी रोशनीके रहते फिर बत्तीको क्यों याद करेगा ?

इसी प्रकार हमारा मन भगवान्का संकल्प करनेवाला बनने लगे तो क्या होगा, संसार उसमेंसे निकलने लगेगा। जो ये भगवद्–भाव राज्य है, वह प्रेमका राज्य है। इस राज्यमें भगवान्को प्रियतम मानकर उनकी लीलाओंका संकल्प करना पड़ता हैं। मन तो मानता नहीं, मन अभी भरा नहीं है। मनमें भगवानको बार–बार लायें तो इससें मन भगवान्में जल्दी लगने लगेगा।

भगवान् की ऐसी चरित्र–कथा है कि इसमें सबका मन लगेगा। इस चरित्रमें सबका मन स्वाभाविक लगता है। चीज यह मधुर है और इसमें त्यागवाली कठिनता नहीं है। त्याग चाहे कैसा भी हो, मनुष्यको त्याग करना पड़ता है। यह भागवद्–भाव जब मिलेगा तो जगत्के वर्तमान भावको खा जायगा। चाहे जगत् इसी रूपमें रहे ; पर उसकी दृष्टिमें यह भागवत्–स्वरूप ही बन जायगा। जगत्में प्रत्येक क्षण, प्रत्येक दशामें

भगवत्–लीलाके दर्शन होंगे। सब जगह भगवान् खेल रहे हैं, सब जगह भगवान्का लीला–विलास हो रहा है और सभी परिस्थितियोंमें उनका लीला–विहार हो रहा है। अतः मृत्युमें भी, जीवनमें भी, सुखमें भी, दुःखमें भी प्रेमी अपने प्रेमास्पदका सुखद स्पर्श प्राप्त करता रहेगा। जो स्पर्श केवल हाथसे होता है, वह तो स्थूल स्पर्श है। सूक्ष्म स्पर्श या वास्तविक स्पर्शसे अर्थ है– आत्मस्पर्श, ब्रह्मस्पर्श एवं भगवत्–स्पर्श। यह स्पर्श इतना सुखद है कि हम लोगोंको इसकी कल्पना नहीं हैं। उसे व्यक्त करनेके लिए शब्द नहीं है। शब्द तो मनकी भाषाके भी नहीं होते हैं– और अध्यात्म का कोई शब्द है नहीं। इनको तो संकेतोंसे, शाखाचन्द्रन्यायसे बताया जाता है– यह गुँगेके गुड़के स्वाद–जैसे अवर्ण्य है। भगवान्के सम्पर्कका जो सुख है ; उसे बतलाया नहीं जा सकता है–

गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।

(रा०च०मा० १। २२६।२)

इसको अपने संकल्पोंमें जैसा आये वैसा ही करना शुरू कर दें। अपनी कल्पनाके अनुसार करने से क्या होगा ? यह भाव उत्पन्न होने लगेगा–भगवान् सत्य है, सर्वमय हैं, सर्वत्र हैं, सबके लिये हैं और सब समय हैं। भगवान्–सम्बन्धी संकल्प भी यदि भगवान् चाहें तो सत्य कर सकते हैं, क्योंकि वे वहाँपर हैं– संकल्पित जगत्में भी यदि भगवान् चाहें तो सत्य कर सकते हैं क्योंकि वे वहाँपर हैं–संकल्पित जगत्में भी तथा उस संकल्पित ध्यानमें भी वे तो हैं ही। भगवान्का वहाँ अभाव नहीं है; इसलिये जब भगवान्का संकल्प करने लगेंगे तो संकल्पके अनुसार उनका दर्शन होने लगेगा। यह करनेकी चीजे है। जब ठीक ऐसा ही होने लगेगा, तब उसमें एक ऐसे आनन्द विशेष की अनुभूति होगी कि, फिर उसके बाद तो वहाँसे मन हटेगा ही नहीं। फिर वहाँ उसके लिये जागतिक त्याग करना सहज हो जायगा। त्याग करनेमें हमकों कठिनता इसलिये पड़ती है कि हम जिस वस्तुके लिये त्याग करते हैं, उसका महत्त्व हमारी दृष्टिमें इस त्याग करनेवाली वस्तुकी अपेक्षा बहुत अधिक नहीं है। वह वस्तु आवश्यक भी हो तो उसके लिए त्याग हो जाता है, जैसे– घरमें दाल नहीं, दाल लानी है, रुपया ले जाय तो दाल थैलीमें डालेंगे और रूपया फेंक देंगे। ऐसी आवश्यक परिस्थितियोंमें रुपयेका त्याग करनेमें कठिनाई नहीं होगी–

वैसे ही भगवान्‌की आवश्यकता और भगवान्‌में प्रियता ये दो हो जाँय तो फिर और कुछ नही चाहिये। प्रियता तो सर्वोपरि है। प्रियता होनेपर तो उस प्रेमीके लिये भगवान् मनका निर्माण करके उसके साथ मिलना चाहते है–

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।
(श्रीमदभागवत् १०। २६ १)

भगवान् स्वयं रसास्वादन करना चाहते हैं कि यदि रस पवित्र हो, यदि रस अव्यभिचारी हो, यदि उसमें कुरसता, विरसता, अरसता न हो तो उसका रसास्वादन करनेके लिये भगवान् चले आते हैं । मनमें विषय तो हो नहीं और जो समर्पण है जीवनका, वह उनके सुखके लिये हो तथा उसमें भरा हो त्याग तो यह रस और सरस बन जाता हैं। इसमें प्रेम–रस भरा रहता है। सरस रस जहाँ बन गया हो उसको लेने भगवान् आते हैं! सरस रस होता है प्रियतामें–प्रियत्वमें। जहाँ भगवान् प्रिय लगे उनका नाम प्रिय हो गया, उनका धाम प्रिय हो गया, उनका सब कुछ प्रिय हो गया उनकी बात प्रिय हो गयी, सारा–का–सारा मधुर हो गया। वल्लभाचार्यजीका एक मधुराष्टक है– सारा मधुर–ही–मधुर, ; ये मधुर क्यों ? भगवान्‌के माधुर्यका जब प्राकट्य होता है तो सारे जगत्‌में मधुरता भर जाती हैं। भगवान्‌के रसका प्रादुभार्व होता है तो जगत् सरस बन जाता है। भगवान्‌के प्रकाशका प्राकटय् होता है तो जगत् प्रकाशमय बन जाता है परन्तु जहाँ भगवान्‌का सम्पर्क नहीं वहाँ न रस है, न प्रकाश है और न औज्जवल्य ही। वहाँ तो तम हैं, अंधकार है, कुरस है, विरस है, अरस है। भगवान्‌की चाह पैदा हो जाय, प्रियता न भी हो तब भी काम हो जाता है। जीवमात्र सुख चाहता हैं ; पर अखण्ड–पूर्ण–नित्य–सुख इस संसारमें नहीं है इसलिये कहींभी तृप्ति नहीं मिलती। सिद्धान्त यही है– इन्द्र हो जायँ, ब्रह्मा हो जायँ, तब भी हम आगे कुछ और प्राप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यही है कि नित्य–अखण्ड–पूर्णको चाहते हैं, वह चाहे आत्मा हो, ब्रह्मा हो, भगवान् हो–जो नित्य है, पूर्ण है, अखण्ड है उसीको हम चाहते हैं। आवश्यकता तो हो गयी और कहींपर मलका कीड़ा टट्टीपर जाकर बैठ गया तो वह कहेगा अमृत है, फिर यदि उसीमें अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करता रहेगा तो अमृत कहाँ मिलेगा ? सीधी बात तो

यह है कि हम सब मलभक्षी हैं, आवश्यकता तो हमें अमृतकी है। परन्तु हम मलमें अमृत मानते हैं। दो प्रकारकी मक्खियोंका वर्णन आता है। रामकृष्ण परमहंसजीने कहा है कि दो प्रकारकी मक्खियाँ होती है एक तो मधुमक्खी होती है जो केवल शहद खाती है और एक विष्ठादि मक्खी होती जो शहद भी खाती है और यदि मल दिख जाय तो वह शहदको छोड़कर मल भी खाने लगती है। इसलिये विषयासक्त लोगोंका स्वभाव है मलासक्ति। विषयासक्तिका अर्थ है–मलासक्ति। भोगासक्तिका अर्थ है मलासक्ति।

विषयरूपी विषको माँग–माँग कर पीना चाहते है और यदि भगवान्ने नहीं दिया तो कहते हैं महराज, हमको तो अभावमें रख दिया आपने। भाग्य फूट गया हमारा जो आपने कृपा हमपर नहीं की। बोले भगवान् हम याद आते है ? वे बोले आप याद आते है तो क्या ! आप न याद आयें, पर हम तकलीफ जो पाते हैं ; पहले इसे मिटाओं। फिर आपकी बात करेंगे।

रसकी आवश्यकता सबको हैं, क्योंकि रस भगवान्का स्वरूप है। सभी भगवान्को चाहते हैं ये भी ठीक है, लेकिन हम भगवान्की चाह पूरी कर लेते हैं भोगोंसे– विषयोंसे पूरी करना चाहते हैं भगवान्की चाह को। चाह पूरी होती भी नहीं और मिलता है दुःख–ही–दुःख। भगवान्की कृपासे वह क्षण हमें तभी प्राप्त होगा, जब हमारा मन यथार्थ देखेगा–हम उस रसको केवल प्राप्त करना चाहेंगे। हमने तो गंदी चीजको मिठाई मान लिया–विषको सुधा समझ लिया। तुलसीदासजी यही कहते हैं–

नर तनु पाइ विषयँ मन देही। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं।।

(रा०च०मा० ७। ४४। २)

जो नर–तन लेकर विषयोंमें मन लगाते हैं,वे अमृत देकर बदलेमें जहर लेते हैं। ऐसे लोगोंको कौन बुद्धिमान् कहेगा, जो पारसमणि खोकर घुँघची लेते हैं–

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।।

(रा०च०मा० ७। ४४। ३)

उसको मिलता क्या है ? इस जीवनमें भोगीको– नरक–यन्त्रणा और दुर्भाग्य ।

ते नर नरकरूप जीवत जग भव–भंजन–पद–बिमुख अभागी।
(विनय–पत्रिका १४०)

इसीलिये सावधानीकी आवश्यकता है। सावधान हो करके भगवान्में रस मानकर चले। किसी दूसरी चीजमें मन ललचाया नहीं कि तत्काल गंदगी याद कर ली और सच्ची बात तो यह है कि उधर मन लगने पर स्थिति अपने आप बनेगी। जिसका मन एक बार भगवान्में खिंचा ; वह लौटेगा नहीं। यह उसका विलक्षण जादू है। भगवान्की ओर मन खिच जाये तो उसे लौटाना अपने वशकी बात नहीं है, ऐसी मजबूत पकड़ है कि फिर लौटता नहीं। बस दो काम करें–एक तो मनमें भगवत्–सम्बन्धी बहुत सुन्दर संकल्प करनेका प्रयास करें, दूसरे अपनी भाषामें–प्रेम–भावकी भाषामें अपना दुखः भगवान्के सामने रोवें। कातर प्रार्थना करेंकि महाराज, आप कृपा करके ऐसा करें मेरे मनमें आपके सिवाय सारे संकल्पोंका संन्यास हो जाय। मै नहीं चाहता किसी और प्रकारका सुख, केवल आपका स्मरण मनमें बना रहे–यही सत्य–संकल्प भगवत्–चिन्तनका मूल है। ऐसा करते रहनेसे सहज ही भगवान्का, उनकी लीलाका चिन्तन होता रहेगा। फिर तो हम साधनको ही नहीं साध्यको भी प्राप्त कर लेगें।

गोपी–प्रेमकी भाव–तरंगें

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। वाणी जिसका निर्वचन नहीं कर सकती, बुद्धि जिसका आकलन नहीं कर सकती, उसका वर्णन असम्भव है। नारदभक्तिसूत्रमें कहा गया है–**'प्रेमस्वरूपमनिर्वचनीयम्'**। प्रेम केवल मनकी चीज है और मनके ही द्वारा इसकी अनुभूति होती है। पर अनुभव करनेवाला अपने–आपको विस्मृत कर देता है। इस प्रेमके स्वरूपको भगवान् रामने सीताको संदेशमें कहलावाय–

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।।
(रा०च०मा०५।१५।६–७)

मेरे और तेरे प्रेमका तत्त्व (रहस्य) एक मेरा मन ही जानता है, पर

वह मन भी कुछ बतला नहीं सकता है ; क्योंकि वह मन निरन्तर तुम्हारे पास ही रहता है। बस, मेरे प्रेमका सार इतनेमें ही समझ ले।

गोस्वामीजी महाराजने कितनी सुन्दर व्याख्या कर दी। थोड़े ही शब्दोंमें प्रेम–तत्त्वका स्वरूप बतला दिया। प्रेमको प्रेमीका मन जानता है, पर वह मन रहता है निरन्तर प्रेमास्पदके समीप–प्रेमास्पदके पास प्रेमास्पदका होकर । यहाँ भगवान् राम तो बने हैं प्रेमी और भगवती सीता प्रेमास्पद हैं। यह उल्टा क्रम प्रेमराज्यमें हो जाता है। यह मनकी वस्तु है, अन्तरकी वस्तु है ; वाणीकी वस्तु नहीं, बाहर प्रदर्शित करनेकी वस्तु नहीं। नारदजीने कहा कि अन्तरकी वस्तु होते हुए भी कहीं–कहीं किसी पात्रमें इसका प्रकाश हो जाता है– **''प्रकाशिते क्वापि......................पात्रे।'**

प्रेम समुद्रमें जब कभी बाढ़ आ जाती है तब प्रीति–रस छलक उठता है और कहीं–किसी अवस्था विशेषमें उसका पता लगता है, अन्यथा यह उछलनेवाली वस्तु नहीं। बड़ी गहरी है, इतनी गहरी कि वहाँतक पहुँचना भी बड़ा कठिन ।

डूबे प्रथम अतल तलमें तब मिलता कहीं प्रेम रत्न निर्मल।
कहीं मृत्यु फल फलता उसमें कहीं कलंक लाभ केवल।।

भगवत्प्रेम तथा गोपी–प्रेममें तो आवश्यकता है सर्वस्व त्यागकी। प्रेम सागरमें निमग्न चैतन्य महाप्रभुने श्यामसुन्दरसे कहा–'प्रभो ! तुम चाहे मुझे गले लगाओ, चाहे ठोकर मारकर गिरा दो। तुम्हारे मनमें जो आवे वही करो, पर मेरे प्राणनाथ ! मेरे लिये तेरे सिवाय दूसरा और कोई नहीं।

गोपीभावके अनुयायी प्रेमीजन भगवत्सेवाको छोड़कर उनके द्वारा प्रदत्त मुक्तिको स्वीकार करते नहीं जिसे भगवान्ने स्वयं स्वीकार किया है–**'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः'**।

देनेपर भी मुक्ति को स्वीकार नहीं करते वे सेवाको छोड़कर और वह सेवा है प्रेमास्पदकी रूचि, प्रेमास्पदको जो अच्छा लगे वह सेवा।

प्रेमी भक्त तो सदैव यही करते हैं–हमारे प्रेमास्पद प्रभु, हमारे प्राणनाथ, हमारे प्राणाराम सुखी होते रहें, इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं, कोई लाभ नहीं, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई ममता नहीं, कहीं कोई वासना नहीं।

यह है प्रेमका विशुद्ध रूप–प्रेमका विशुद्ध मार्ग। यही विशुद्ध अनुराग अथवा रागका ही विशुद्ध रूप है, जिसे भाव कहते हैं। राग जब

बढ़ करके अनुरागत्वको प्राप्त होता है, तब उसमें भावका उदय होता है। इस राग–भावके उत्पन्न होनेपर अपने अभिमानमें, अपने वर्णमें, अपनी जातिमें, यश–कीर्तिमें और लोक–परलोकमें भी ममता नहीं रहती । इसीका नाम है सर्वत्याग। ऐसी अवस्थामें कभी उसमें क्षोभ नहीं होता । वह हर अवस्थामें अपने प्रियतमका हँसता हुआ मुँख देखना चाहता है। यहाँतक कि नरककी पीड़ा भी प्यारेके मुखपर मुसकान लानेवाली हो तो प्रेमीके लिये इससे बढ़कर कोई भी वस्तु वाञ्छनीय नहीं हो सकती।

काम और प्रेममें कई बार बहुत साम्य दिखायी देता है, परन्तु जहाँपर दूसरेसे हम चाहते है उसका नाम है काम और जहाँपर दूसरोंको हम अपना देकर सुखी करना चाहते हैं उसका नाम है प्रेम। यही काम और प्रेमका अन्तर है । प्रेम देना जानता है और काम लेना जानता है। काम सौदा करता है, प्रेम त्याग करता है। प्रेमकी भित्ति है त्याग और कामकी भित्ति है कान्ट्रेक्ट–सौदागिरी–यह हम तुमको देते है। इसके बदलेमें तुमको यह देना पड़ेगा। काम और प्रेमका यह महान् अन्तर है।

प्रेमीके मनमें कभी यह कल्पना भी नहीं आती है कि प्रेमास्पद मुझको कुछ दे। बल्कि उसकी तो एकमात्र यही अभिलाषा होती है कि मेरा प्रेमास्पद मेरे द्वारा सुखी हो, परन्तु प्रेमास्पद प्रेमीके इस भावसे इतना कृतज्ञ हो जाता है कि उसको सुख देनेकी इच्छासे प्रेमीकी भावनाके अनुसार ही वह अपना मन बना लेता है।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिका :।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।

रास क्या है ? रमण क्या है ?–ये हैं श्रीश्यामसुन्दरके स्वरूपानन्दका वितरण। गौडीय सम्प्रदायके महानुभावोंने बड़ी सुन्दर टीका की है रास–पंचाध्यायीपर। परीक्षित् तकके मनमें संदेहका उदय हो जाता है–प्रश्न पैदा हो जाता है। पर वहाँ यह बात नहीं होती, वहाँ तो होती है दिव्य चिदानन्दमयी स्वस्वरूप–वितरण की सुमधुर लीला, जिसके भोक्ता–भोग्य दोनो स्वयं प्रभु ही होते हैं। यहाँ गंदा काम नहीं है। यह उनका स्वीकार किया हुआ दिव्य काम है–

शुद्ध सच्चिदानन्द, परम निज महिमामें स्थिति नित्य अकाम।
मेरे सुख–हित वे करते स्वीकार स–मुद अपने मन काम ।।
सहज वासना–राग रहित जो, ममता–रहित नित्य अविकार।

करते मेरे लिये मुझे वे 'प्रिया' रूपमें अंगीकार।।
एक–एक गुणपर जिनके मोहित सब सुर–ऋषि मुनि संसार।
प्रेम–रूप में रहते नित्य विमोहित मुझपर बिना विकार ।।
जिनके अगं–अंगपर नित्य निछावर कोटि–कोटि शत काम।
वे मेरा सौन्दर्य निरखते नित्य, न ले पाते विश्राम।।
जिनको कभी न पलभर लगती भूख–प्यास, जो रहते तृप्त।
मेरे रस–प्रसाद कण–हित शुचि वे रहते हैं नित्य अतृप्त ।।
रति रस मय, रस रूप, रसिक वे दिव्य प्रेम–रस–पारावार ।
प्रेम–सुधा–रस–पान निरत, नित्य दिव्य प्रेम–विग्रह साकार ।।

इसमें कहाँ मोह है, कहाँ काम–क्रोध अथवा लोभ है, पर प्रेमराज्य की यह बड़ी विलक्षण बात है–प्रेमी अपने लिये कभी कुछ चाहता नहीं–स्वयं मुक्ति आकर उसका पैर पूजे, ग्रहण करनेके लिये उससे प्रार्थना करे तो भी प्रेमी कहता है–'मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं, मै तो केवल अपने प्रेमास्पदकी सेवा चाहता हूँ।'

स्वयं भगवान् कहते है–जो मेरे जन हैं वे मेरी सेवाके अतिरिक्त मुक्ति भी स्वीकार नहीं करते। उनके मनमें न क्षोभ है, न अशान्ति है, न कुछ पानेकी इच्छा है और न कुछ देनेको बचा है। उनके पास अपना कुछ बचा ही नहीं तो क्या दें। वास्तवमें जबतक हमारे पास देनेको कुछ भी बचा रहता है– कुछ अपना, कुछ अपनी चीज, कुछ अपना अभिमान, कुछ अपना भाव, कुछ अपनी ममताकी वस्तु, कुछ अपना हम बचा रखते हैं तबतक हमने पूरा दिया नहीं–'पूरा दिया नहीं तो पूरे सेवक बने नहीं।'

राधाका अर्थ क्या है ? मात्र श्रीकृष्ण–प्रेम। गोपीका अर्थ क्या है? केवल श्रीकृष्णकी सुखेच्छा। इस प्रकारका जिसका जीवन है वही गोपी है और वही राधा है। उसके लिये बहुत कुछ बदलनेकी आवश्यकता नहीं हैं। केवल बदल देना है अपने अन्तरात्माके भावोंको, फिर तो उनमें जो भवतरंगें उठेंगी, वे बड़ी विलक्षण होंगी। राधा–महाभावकी समुद्र–तरंगे अगाध हैं, असीम हैं, अनन्त हैं। यदि कभी उनमें मान भी आता हैं तो वह मान अपने लिये नहीं होता, वह मान किसी अभिमानपर ठेस लगनेपर नहीं होता, वह मान अपनी पूजा करानेके लिये नहीं होता, वह मान खुशामद करानेके लिये नहीं होता, वह मान दण्ड देनेके लिये नहीं होता है। बड़ी विलक्षण बात है–वह मान होता है प्रेमास्पदको हँसानेके लिये, उनको

सुख देनेके लिये । प्रेमास्पद भी प्रेमियोंकी चाह पूरी करनेके लिये यह चाहते हैं कि ये हमकों भजें और खीजकर हमको रिझायें। बड़ा सुन्दर भाव होता है खीजकर रिझानेमें।

इस प्रकारका विलक्षण भाव इस प्रेम–समुद्रकी तरंगोंके रूपमें निरन्तर उछलता रहता है। कभी राधा मानिनी हैं तो कभी राधा आराध्या हैं अथवा आराधिका हैं। आराध्या राधाका स्वरूप समझना बड़ा मुश्किल ! आराधिका राधाका स्वरूप तो समझमें आता है–जो भगवान्‌की पूजा करती हैं, आराधना करती है। बड़ा सुन्दर रूप हैं उनका। पर वह कहीं भगवान्‌के द्वारा पूजित होती हैं, भगवान् उनकी आराधना करते हैं, उनका चरण–वन्दन करते हैं, उनके लिये चरणोंपर पुष्प चढ़ाते हैं–**'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'**–कहकर भगवान् उनके चरणोंको चाहते हैं। सदाचारियोंके लिये बड़ी विकट बात–बड़ी भोंड़ी बात लगती है। यह सचमुच उनके समझमें आनेकी बात नहीं –

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।

(श्रीमदभागतव १०। ४७। ६१)

एक कथा आती है। द्वारिकाकी बात है। जब राधिका और गोपियोंकी बात चलती है तो श्रीकृष्णको रोमांच हो आता, आँसू बहने लगते, वाणी गद्‌गद हो जाती, कुछ बोल सकते नहीं। ऐसी दशा देखकर पटरानियोंने राजमहिषियोंने आश्चर्य प्रकट किंया। मनमें बड़ा संदेह प्रकट करने लगीं–ऐसा क्या हो गया–ऐसी क्या त्रुटि हममें और ऐसा क्या गुण उनमें। जब कभी गोपियोंकी बात चलती, उनका नाम आता, तब श्रीकृष्णके आँखोंमें आँसू आ जाते। राजराजेश्वर–सब प्रकारके सुखोंसे सम्पन्न– सभी प्रकारके आराम, क्या कमी है यहाँ ! क्या नहीं है यहाँ जो वहाँ था ?

भगवान् सार्वभौमसमर्थ हैं, वे सब कुछ बन सकते हैं । मृत्यु भी वही बनके आते हैं न ! भगवान्‌को रोग नहीं होता है भगवान्‌की मौत नहीं होती, पर मौत भी भगवान् बनते, रोग भी भगवान् बनते। तो वे रोग बन गये और दुखने लगा पेट भगवान्‌का। बोले–'अरे पेटमें दर्द हो रहा है दवा लाओ, दवा लाओ। वैद्य आ गये, उन्होंने दवा दी, पर अच्छे नहीं हुए भगवान्। वैद्य बोले–महाराज, कभी पहले भी पेटमें दर्द होता रहा हो और कोई दवा आपने प्रयोग किया हो तो बतायें। भगवान्– बोले हाँ, दवा

तो जानता हूँ, पर उसका अनुपान नहीं मिलता। यदि हमारा कोई प्रेमी अपने चरणकी धूल दे दे तो उस धूलके साथ हम दवा ले लें।

रुक्मिणजी पास बैंठी थीं, सत्यभामा भी बैठी थीं, दोनोंने सोचा–चरणकी धूल तो हमारे पास है ही, कोई बात नही और प्रेमी भी हम हैं ही, पर शास्त्र कहता है, रोज सुनते है, जानते हैं, पतिको–स्वामीको चरणकी धूल कैसे दे दें ? पाप लगेगा, नरकों में रहना पड़ेगा। अब यह नरक जानेका सामान कैसे इकट्ठा करें भला, क्या करें ये तो बुरी चीज।

सत्यभामाजी बोली– आप दे दीजिये न, तो रुक्मिणीजी कहा–दे तो देती बहन, पर डर लगता हैं कहीं पाप लगा– नरक हो गया तो। सारी रानियाँ–सोलह हजार रानियाँ सब नट गयीं। पापका भागी बननेके लिये कोई तैयार नहीं। अब वे नट गयीं, तो कौन दूसरा द्वाराकावासी दे। कौन विश्वासी दे ? सब जगहसे नाहीं आ गयी।

उसी समय नारदजी भी वहाँ पधारे और बोले–'पेट दुखता है', महाराज, यह कैसी माया रची ? भगवान् बोले– 'दुखता तो बहुत है, तुम कुछ उपाय कर दो, किसी प्रेमीकी चरणधूलि ला दो।' नारदजीने सोचा– धूल तो अपने अन्दर ही है, पर हमसे बड़ी प्रेमका दर्जा रखनेवाली तो रुक्मिणीजी हैं। जब इन्होंने नहीं दी तो हम कैसे दें ? नहीं दी नारदजी–ने भी। पुनः श्यामसुन्दर बोले–नारद, जरा व्रजमें तो हो आओ। नारद बोले– जब सारे विश्वमें नहीं मिली तो व्रजमें क्या मिलेगी। भगवान् बोले–तुम जाओ तो सही। वीणा हाथमें बजाते भगवान्‌का मंगलमय नाम–गान करते हुए जा पहुँचे व्रजमें नारद। नाम गान, सुना, बड़ा मधुर–मीठा। सब गोपागंनाएँ एकतित्र हो गयीं। गोप भी एकत्र हुये और बच्चे भी। सबका समाधान किया–कराया। फिर गोपागंनाओंके बीचमें पहुँचे नारद। सबने घेर लिया, बोली–महाराज कहाँसे पधारे ? द्वारकासे। अब तो सबके मनमें उत्कण्ठा हो गयी समाचार जाननेकी। क्यो सरकार मजेमें हैं ? हमारे प्राणनाथ प्रसन्न हैं न ? कुछा हुआ तो नही ? नारदजी चुप हो गये। जरा मुँह बना लिया। अब तो इनके प्राण निकलने लगे। अरे समाचार पूछा राजी–खुशीका और ये चुप हो गये। लगता हैं कुछ दालमें काला हैं। अनिष्टकी आशंका हो गयी। बोली–महाराज जल्दी बताइये मामला क्या है ? नारदजी बोले– श्यामसुन्दरका पेट दुखता है, दवा तो बहुत हुई पर कुछ लाभ न हुआ। गोपियोंने पूछा–कोई उपाय ?

नारदजीने कहा–उपाय तो भगवान्ने खुद बताया–किसी प्रेमीकी चरणधूलि मिल जाय तो अच्छे हो जायँ। श्रीश्यामसुन्दर कहा करते थे कि गोपियाँ हमारी बड़ी प्रेमिका। बोलीं–वे प्रेमी मानते हैं हमको ? नारदजी बोले– वे तो मानते हैं। तो वे बोली–ले जाइये धूल। सब गोपियोंने चरणोंको आगे बढ़ा दिया। बोली– जितनी मरजी हो ले लें–जितनी मरजी हो बाँध लें महाराज ! नारदने कहा–अरी पागल हो गयी हो, क्या कर रही हो तुम ! शास्त्रकी अवज्ञा कर रही हो, मानती नहीं–जानती नहीं। अरे, किसको धूल दे रही हो ! भगवान्को ! नरकमें वास होगा। गोपियाँ बोली–हम भगवान् तो जानती नहीं, वे तो हमारे प्राणनाथ हैं और यदि उनके पेटका दर्द अच्छा होता हो तो हमें अनन्तकालतक नरकोंमें रहना पड़े तो भी उससे बढ़कर क्या लाभ होगा हमारे लिये ? अनन्तकालतक हम नरकोंमें रहेंगी, कभी शिकायत नहीं करेगी कि आपने हमको नरकोंमें भिजवा दिया। आप धूल तो ले जाइये महाराज और जल्दी जाइये, जिससे उनके पेट का दर्द अच्छा हो जाय।

नारदजी चकित हो गये। मन–ही–मन सोचने लगे–'हम तो झूठे ही प्रेमी बन रहे थे अबतक ! बहुत बढ़िया उद्धवने माँगा था लता, गुल्म, तरु होकर चरणोंकी धूल। हमें तो प्रत्यक्ष मिल गयी। आज गोपियोंने पैर बढ़ा–बढ़ाकर दे दी। धन्य हो गये हम।' इसके बाद चरणधूलिसे उन्होंने अपना सारा मस्तक अभिषिक्त कर लिया और फ़िर पोटली बाँधकर सिरपर रखी तथा नाचते–गाते हुए वीणा लेकर पहुँच गये द्वाराकाके राजमहलमें। बोले–महाराज, ले आया, ले आया। हँसे भगवान्, भला कहाँसे ले आये, तो बोले–महाराज, आपने भेजा था न व्रजमें। अरे, व्रजमें दे दिया किसी ने ? नारद बोले–हाँ, गोपियोंने दे दिया। आपने समझाया नहीं, कहा नहीं उनको कि बड़ा पाप लगेगा। बोले–कहा तो महाराज ! पर वे ऐसी पगली हैं कि हमारी बात उन्होंने सुनी नहीं, मानी नहीं। कहने– लगीं हमारे अघासुरको तो श्यामसुन्दर मार गये पहले ही, हमारे पास 'अघ' कहाँ है और यदि 'पाप–वाप' कोई होगा तो कोई बात नहीं, हम भोगेंगी, नरकोंमें जायँगी। आप ले जाइये, प्राणनाथको जल्दी अच्छा कीजिये। भगवान्ने गोपागंनाओंकी चरणधूलि लेकर सिरपर लगा ली। पेट तो अच्छा था ही, रुक्मिणीजी तथा सत्यभामाजी सब इकट्ठी थीं ही– सब चकित रह गयीं। वाणी मुखरित न हो सकी उनकी। श्रीकृष्णने मान रखा उनका और

बोले– रुक्मिणीजी, अब पेट अच्छा हो गया, चिन्ता मत करो। ये गोपियाँ तो पागल हैं, पर कभी–कभी ये पगली भी काम दे देती हैं। देखा न ? अवगत करा दिया कि गोपियोंके नामसे हमारे आँसू क्यों आते हैं।

प्रेमराज्यमें संकोच नहीं होता, संकोच वहाँ होता हैं, जहाँ हम कुछ चाहते हैं। प्रेमी कुछ चाहता नहीं और उसके पास चाहने योग्य मन रहता नहीं ।

यह राधा–भाव जो है यह बड़ा विलक्षण त्यागका भाव है – इस सर्वस्व–त्यागके लिये हमें तैयार हो जाना चाहिये। सबसे पहले मान जायेगा, धन जायेगा, स्वर्ग जायेगा, लोक जायेगा, परलोक जायेगा, इज्जत जायेगी। सबकी होली फूँक दी जायेगी।

कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फुँके आपनो आवे मेरे साथ ।।

जिसको अपना घर फूँकना हो – घरके ममत्वको जला देना हो वह हमारे पास आ जाये तो उसकी बेड़ी कट जायेगी –

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङि.घ्रनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।।

(श्रीमद्भागवत १०। १४ । ३६)

ब्रह्माजीने कहा–भगवन् ! जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तभीतक राग–द्वेषरूपी चोर उसके पीछे लगे रहते हैं। तभीतक पैरोंमें लोहेकी बेड़ियाँ पड़ी रहती है। जब आपका हो गया, जेलखानेसे छूट गया। ये बेड़िया निकल गयीं और उसके जीवनको लूटने वाले राग–द्वेषरूपी चोर, उससे दूर हट गये। पर आपका होनेके लिये दूसरोंका होना छोड़ना पड़ता है।

हम न मालूम किस–किसके हो रहे है ? कामके, क्रोधके, लोभके, अभिमानके, कीर्तिके, यशके, भोगके, घरके और मकानके– इस प्रकार न मालूम किस–किसके गुलाम हो रहे हैं– इन सारी गुलामियोंको छोड़ना पडेगा।

जो अपने सर्वस्वको स्वाहा करके–फूँक .करके उसके भस्मावशेषपर नाच सके वह प्रेमके मार्गमें आवे महाराज–

प्रेम पंथ पावक की ज्वाला भारी पाछा भागे जोने ।
मांही पड्याते महारस माने देखन हारा दाम्भे जोने।।

प्रेमी–प्रेमास्पदके मध्य उत्पन्न होनेवाले भावकी यही पराकाष्ठा है। यह महान् रस, यह महान् दिव्य आनन्द, यह राधा भाव, यह गोपी भाव, प्रतिष्ठित होते है सर्वस्व त्यागकी भूमिकपर ही।

गोपी–प्रेमकी प्राप्तिका साधन है–भगवत्प्रेमीका संग

सत्का जहाँ संग मिले उसे सत्संग कहते हैं। 'सत्' अर्थात जो सदा सत्य है जिसका कभी नाश नहीं होता । सत्य स्वयं भगवान् है। भगवान्का जहाँ संग मिले वह सत्संग है।

भगवान्के संग का साधन भगवत्संगीका संग है। भगवत्संगीके अनेक अर्थ हैं। जिसमें भगवान्के प्रति आसक्ति हो उसे भगवत्संगी कहते हैं। अथवा भगवान्की उपासना था आराधाना करनेवाला भी भगवत्संगी कहलाता है। एक अर्थ यह भी है कि जिसे भगवान् का संग प्राप्त हो। जो नित्य भगवान्के संग है और भगवान् जिसके नित्य संग है, वह भगवत्संगी है।

थोड़े थोड़े परिवर्तनसे भगवत्संगीके संगके महत्त्वका श्री भागवत् में अनेक बार उल्लेखा है।

तुलायाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्‌ ।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।

भगवत्संगीके संगी, की महिमा अपार है। विषयभोग का सुख तो तुलना–में आता ही नहीं। भगवत्संगके संगकी चाह करनेवाला स्वर्गसुख क्या, मोक्षसुखतककी उपेक्षा कर देता है। उसमें भगत्प्रेमी संतके संगकी एकमात्र चाह बन रहती है।

संत दुर्लभ होते है। नारदभक्तिसूत्रमें कहा गया है कि **'महत्संगस्तु दुर्लमोऽमम्योऽमोघश्च'**। संत दुर्लभ होते हैं और मिल जानेपर भी उनकी पहचान अत्यन्त कठिन है। सच्ची पहचान न होनेके कारण प्रायः लोग ऐसे संतोंको जिन्हें भगवान्का वास्वविक संग प्राप्त नहीं होता, भगवत्प्रेमी संत मान बैठते हैं। लौकिक स्तरवाली हमारी बुद्धि, जो अधिकांश–में बाहर–ही–बाहर देखती है, उन्हें पहचान नहीं कर पाती। पत्थर या लकड़ीकी तौल कर सकनेवाला कांटा, हीरा तौल कैसे कर सकता है? हीरेका मूल्यांकन करनेके लिये विशेष तराजूकी, विशेष कसौटीकी आवश्यकता होती है और तभी हीरेकी परख और पहचान सम्भव है। प्रथम तो संत

मिलते ही नहीं, मिलते हैं तो पहचानमें नहीं आते, पहचांनमें आनेके बाद भी श्रद्धा नहीं होती, श्रद्धा होती है तो पास रहनेकी चाह नहीं होती । परन्तु यदि दुर्भावना करके भी संतके पास रहे तो उसका लाभ होता है क्योंकि वस्तुगुण कहीं नहीं जाता। बिना पहचाने भी संतका संग अमोघ है। अनजानमें अग्निका स्पर्श हाथको गर्मी देता ही है, बर्फ–को छूने पर शीतलताकी अनुभूति होती है। वस्तुगुणके प्रभावसे संतके सम्पर्कमें आनेवालोंको लाभ होता ही है। भले उसे लाभकी जानकारी न हो।

संतका संग केवल चाहपर निर्भर है। जप, पाठ, एकान्तमें बैठना, ध्यान आदि सब ठीक हैं, और सब सहायक है, किन्तु संतका संग भाव–सापेक्ष है। अनुष्ठानके सफल होने पर सूर्य, वायु, अग्नि–देवताओंको आना पड़ता है। आजकल अनुष्ठानकी समाप्तिपर देवताओंके न आनेके कारण विधिमें पूर्णताका अभाव है । सम्पूर्ण विधानका विधिवत पालन होनेपर पूर्व यूगोंमें देवतागण आये हैं जैसे कुन्तीके बुलानेपर सूर्य। देवताओंका आह्वान विधि विधानकी पूर्णतापर निर्भर है। संतके संगकी प्राप्तिमें विधि विधान सहायक बन सकते है। किन्तु आवश्यक नहीं । वह विधि–विधान निरपेक्ष है। उसमें केवल भाव मुख्य है। और वह भावद्वारा लभ्य है।

भगवत्प्रेमी जब मिलते है और उनमें जो प्रेमचर्चा चलती है उस चर्चाके समय यदि उनके प्रियतम भगवान् भी का उपस्थित होते हैं और उनमें यदि उनकी चर्चामें रूकावट आती है तो उनसे प्रेमी यही कहते हैं आप थोड़ी देरके लिये यहाँसे चले जाइए। यही भगवत्प्रेमकी अनुपमता है, भगवत्प्रेमियोंमें गोपियोंका स्थान सबसे ऊँचा है, बड़े–बड़े ऋषि मुनियोंको भी दुलर्भ है। पद्मपुराण में ऐसा आया है कि स्वयं ब्रह्मविद्याने गोपीभावकी प्राप्ति के लिये कल्पों तपस्या की ।

अष्टकालीन सेवाचर्यामें किसी मंजरीके अनुगत होकर सेवा भावना करें। निकुंज में किसी मंजरीने झाड़ू दी। अनुनय–विनय करके एकत्रित कूड़ेको फेंकनेकी सेवा प्राप्त करें। अथवा किसी मंजरीके द्वारा पानदान दिये जाने पर प्रिया– प्रियतम के पीक ग्रहण करनेके लिये पीकदानी उठाने की सेवा प्राप्त करे।

स्वयंको मंजरीकी दासीके रूपमें भावित करके भावराज्यमें ले जाय। अपनेको किसी मंजरीके साथ दें। यदि अपना नाम याद न भी हो

तो कल्पित नाम रखले। देवी–भागवतके अनुसार अष्टसखियोंके कुछ नाम हैं और वैष्णव ग्रन्थोंके अनुसार कुछ अन्य नाम हैं। उस समय जैसा मनमें आये वैसी ही भावना करे, फिर अपने आप असली वस्तु स्फुरित होने लगेगी। रूचिके अनुकूल सेवाकी भावना करें जैसा कि सत्संग–सुधामें आया है। अपने मनसे जोड़ ले राधाकुण्ड है, कमलके पुष्प खिले है, कदम्बका वृक्ष है, उसके नीचे राधाकृष्ण खड़े हैं। अथवा निकुंजमें झुला पड़ा हैं, उसमें राधाकृष्ण झूल रहे हैं। इस प्रकार पांच सौ, एक हजार जितनी भी हो सके, वस्तुओंकी कल्पना करे और उसके अनुसार सेवाकी भावना करे। भावराज्यके अनुसार अपने स्वरूपकी दिन में दस बार, बीस बार, पचास बार भावना करे। हमेशा आवृत्ति करें। इससे भावकी पृष्टि होती है।

दोषदर्शन, सन्देह, भावपरिवर्तन, अहंकार आदिकी जहाँ तनिक भी सम्भावना होती है, उसे भावराज्यमें प्रवेश नहीं मिलता । भावान्तरकी सम्भावना संतके संगकी प्राप्तिमें सबसे बड़ा विघ्न है। इस लोक–में पतिव्रताके लिये प्रायः कहा जाता है कि **'सपनेहु आन पुरुष जग नाही।'** इसका अर्थ यह नही है कि इस जगत्में पुरुषके ही नहीं है, परन्तु पत्नीके लिये भावदृष्टिसे पतिके अतिरिक्त सारा जगत पुरुष शुन्य हो जाता है। अरविन्दाश्रममें अनेक साधक रहते हैं। परन्तु अरविन्द एवं माताजीके कमरेमें झाड़ू लगानेका अवसर उन्हें ही मिलता था, जो इसके योग्य समझे जाते थे–अर्थात जिनमें भावान्तर होनेकी सम्भावना नहीं थी। महाभारतमें ऐसा आया है कि युद्धके पूर्व संजय धृतराष्टके पास जाकर बोले–'महाराज पाण्डवोंकी विजय निश्चित है।' धृतराष्टने पूछा–यह कैसे कह सकते हो? संजयने उत्तर दिया – 'महाराज पाण्डवोंके अन्तःपुरमें जाकर मैंने देखा कि अर्जुन श्रीकृष्णकी गोदमें सिर रखकर सो रहे हैं और श्रीकृष्ण अपने हाथसे अर्जुनके बालोंको सहला रहे हैं। पैताने सत्यभामा और द्रौपदी बैंठी है। अर्जुनका एक पैर उनकी गोदमें है और वे उसे दबा रही हैं, जिन अर्जुनकी भगवान् श्रीकृष्णके साथ इतनी एकात्मता हो उनकी विजय निश्चित है।' संजयके अचानक अन्तःपुरमें चले आनेपर अर्जुन निःसंकोच पूर्ववत लेटे रहे और सत्यभामा तथा द्रौपदी भी संभ्रमरहित पूर्ववत पैर दबाती रही। श्रीकृष्णने संजयको देखकर बैंठनेके लिये सोनेका पीढ़ा अपने पैरसे बढ़ा दिया किन्तु संजय पीढ़ेको प्रणाम कर नीचे ही बैंठ गये।

उनमें भावान्तर होनेकी सम्भावना नहीं थी। इसलिये श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें संजय जा सकते थे पर उनके अपने पुत्र प्रद्युम्न और अभिमन्यु नहीं। प्रद्युम्न उनके पुत्र थे इसलिये पुत्रके रूपमें उनका जो अधिकार था वह तो उसे प्राप्त था ही। परन्तु अन्तःपुरका भावराज्य दूसरा था जिसमें प्रद्युम्नको प्रवेशाधिकार नहीं था। सुग्रीव और हनुमान दोनों ही रामको अतीव प्यारे हैं, किन्तु राजदरबारमें भगवान् रामके पास सुग्रीव ही ऊपर बैठते हैं। हनुमान तो दूर कहीं कोनेमें खड़े रहते हैं, पर राजमहलमें सुग्रीव नहीं, हनुमान ही जा सकते हैं और निर्बाध जा सकते हैं। चैतन्य महाप्रभु दो प्रकारके संकीर्तन किया करते थे। एक कीर्तन सबके लिये किया करते थे और एक उनका अन्तरंग कीर्तन होता था जिसमें केवल अंतरंग भक्त ही भाग ले सकते थे। उसमें केवल वैसे ही लोग जा सकते थे जिसमें भावान्तर होनेकी सम्भावना नहीं थी। एक बार ऐसे अंतरंग–कीर्तनमें बहुत देर तक कीर्तन चालू रहने पर भी रसका उदय नहीं हुआ। कारणकी खोज की गयी। तख्तके नीचे एक कीर्तन विरोधी छिपा हुआ मिला। वह यह जाननेके लिए छिपा था कि देखें ये एकान्तमें क्या करते हैं । जो चैतन्य इतने उदार थे कि चाण्डालको भी हृदयसे लगाते थे, उन्होंने उस कीर्तनविरोधीको बाहर निकाल देनेके लिये कहा। उसे निकाल दिये जानेके बाद कीर्तनमें रसका प्रवाह बह चला। मथुरासे श्रीकृष्णका संन्देश लेकर उद्धव व्रज आये। व्रजांगनाओंकी – मुख्यतः श्रीराधाकी विरहसे विदग्धावस्थाको देखकर उद्धवको बड़ा दुःख हुआ। श्रीराधाको ऐसा लगा कि मथुरा लौटकर उद्धव श्यामसुन्दरको उलाहना देंगे, उन्हें फटकारेंगे। श्रीराधाकृष्णको यह सह्य नहीं था। विरहकी बातें सुनकर भी उद्धव श्रीराधाके भावस्तरको छू नहीं पाये। खटसे राधाका स्वर बदला और वे लगीं उद्धवसे कहने–'अरे उद्धव, तुम्हें क्या मालूम ? श्रीकृष्ण यहाँसे कभी गये ही नहीं,मेरे हृदयनिकुंजमें जाकर देखो। वे वहाँ नित्य विहार कर रहे हैं, भावान्तर होनेपर रसका प्रवाह बन्द हो जाता है, निकुंजलीला छिप जाती है।

जिसे सेवाका तनिक भी अवसर मिल जाय, वही परम सौभाग्यशाली है। वैष्णवोंने भृत्यके परिचारकके सेवकके सेवक बननेकी चाह की है। छोटी सेवा ही सही, पर यही एक सौभाग्यकी वस्तु है। इससे छोर तो हाथ लगा जिससे एक ओर भावकी पुष्टि होगी और दूसरी ओर भावके

अधिकाधिक पुष्ट होनेपर निकट एवं उच्चस्तरकी सेवाका अधिकार प्राप्त हो सकेगा। जैसे किसी बड़े आदमीके यहाँ कोई नौकर कार्य करता है और उस नौकरकी कोई सहायता करता हो, उस बड़े आदमीके आनेपर नौकर मालिकसे कहता है 'ये मेरी सहायता करता है'। मालिकने पूछा 'क्या यह कुछ लेता है ?' नौकरने जबाब दिया 'नहीं यह कुछ नहीं लेता।' नौकरकी बातपर मालिक उसपर प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार मंजरी,दासीको प्रिया–प्रियतमतक पहुँचा सकती है। उसीके अनुगत होकर अपनेको सेवाकार्य करना चाहिये।

सेवाकार्य करनेवालेके लिये बहुत कार्य हैं। सेवाकी चाह न रखनेवालेके लिये कोई कार्य नहीं। भगवान् पूर्ण काम होते हुये भी सेवा करनेकी चाह रखनेवालेके लिये भगवान् स्वतः सेवा करानेकी चाह और कमी स्वीकार कर लेते हैं। यह कमी भी भगवान्‌का स्वरूप है। भगका का अर्थ है ऐश्वर्य, जो षड्‌ऐश्वर्यसे युक्त है ऐसे भगवान् सदा स्व–महिमामें स्थित रहते हैं। भगवान् पूर्ण हैं किन्तु प्रेमकी चाहको पूर्ण करनेके लिये अपूर्ण बन जाते हैं और उनमें भूख उत्पन्न हो जाती है।

अपनेको किसी मंजरीकी दासीके रूपमें भावित करके भावराज्यमें ले जाय। किसी मंजरीकी अनुगामिनी बनकर और इस शरीरको भूलकर अपनी भावनाके अनुसार सेवा भावना करता जाय। और सदैव उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करता रहे। निरन्तर कृपाकी प्रतीक्षा करें, उनके अनुग्रहपर अवलम्बित हो जाय। जिस मंजरीकी अनुगामिनी बने हैं उसकी कृपासे सम्पूर्ण सत्य हो जायेगा। मंजरीकी कृपापर निर्भर रहनेसे श्रीराधारानी एवं श्रीश्यामसुन्दरका अनुग्रह स्वतः प्राप्त होता है, मंजरीकी सहायिका जानकर प्रिया–प्रियतम स्वयं कृपा करते हैं।

उत्तरोत्तर पुष्ट होता हुआ भाव सबल हो जाता है। भावकी सबलता होनेपर अन्य भावकी बात सुहाती नहीं। कान सुन नहीं सकते। किसी अन्य देवताके प्रकट होनेपर आँखें उसे देख नहीं पातीं। यदि देखती हैं तो अपने भावसे भावित करके देखती हैं। एक वारकी बात है कि श्यामसुन्दर सखियोंके बीचसे भाग गये और जाकर एक निकुंजमें छिप गये। श्यामसुन्दरको खोजते–खोजते गोपियाँ उस कुंजके पास आ गयीं। अपनेको छिपानेके लिये भगवान् श्यामसुन्दरने चतुर्भुज विष्णुका रूप धारण कर लिया। गोपियोंने चतुर्भुज भगवान् विष्णुको साष्टांग प्रणाम किया और पूछा–'क्या इधरसे श्रीकृष्ण

गये हैं। ऐसा पुछनेपर श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये कि इन्होंने पहचाना नहीं। ये खोजमें आगे चली जायेगी तो और मजा आयेगा। यहाँ ज्ञानी भले आक्षेप लगाये कि इन्होंने श्रीकृष्णको पहचाना नहीं या दोनोंमें भेद माना ।

जहाँ भावसबलता है वहाँ नित्य विहार चलता है। वहीं निकुंज है। निकुंज वह नहीं जहाँ कुछ बृक्ष लगा दिये और निकुंज नाम लिख दिया। जिस भावान्तरशून्य हृदयमें प्रेमस्वरूप श्यामसुन्दर सदा विराजे हैं – वहीं निकुंज है। उसे निभृतनिकुंज एकान्त निकुंज कहते हैं। इस निकुंजपर जिनका आधिपत्य है वे निकुंजेश्वरी श्रीराधा हैं और जिनके आश्रयसे रस प्रवाहित होता है वे निकुंजेश्वर श्यामसुन्दर हैं। यही निकुंज व्याख्या है।

गोपी–प्रेमकी प्राप्तिका साधन है–भगवत्प्रेमी संतोंका संग और उनके संगकी चाह।

भाव कैसे बढ़े ?

अभी थोड़ी देर पहले मुझसे किसीने पूछा–भाव नहीं बढ़ता क्या करें ? प्रेमके राज्यमें भाव बढ़नेकी चिन्ता नहीं होती। भाव बढ़ता है या नहीं बढ़ता, घटता है कि मिटता है वह यह सब नहीं देखता। वह तो देखता है केवल प्रेमास्पदकी ओर, चिन्तन करता है एक प्रेमास्पदका। वह अपनी ओर नहीं देखता। अपनी ओर देखना है और अपनी चिन्ता करनी है तो अभी समर्पणका भाव नहीं करना चाहिये। फिर साधन करो, बड़ी अच्छी चीज है, तैर कर जाओ। परन्तु अगर बोट (नाव) में जाना है तो उसके साथ तैरनेकी बात मत सोचो। बोटमें भी बैठो और हाथ पैर चलाने की चेष्टा भी करो तो यह ठीक नहीं । या तो समर्पण कर दो और बोटमें बैठ जाओ तो फिर कभी बोटसे उतरनेकी कल्पना मत करना। निरन्तर यही सोचते रहो कि बोटमें बैठे है,बस कहाँ हैं, कैसे हैं, यह सब मत सोचो। और नहीं तो फिर तैर कर जाओ, विवेक–वैराग्य पैदा करो, मुमुक्षता जागृत करो तब फिर भगवान्को प्राप्त करो। दो नावपर पैर रखनेसे काम नहीं चलता। तुम अपनी चिन्ता करनेवाले होते हो कौन ? अगर तुम अपनेको भगवान्के समर्पित करके उनपर छोड़ चुके तो या तो उनको असमर्थ मानते हो या उनके सौहार्द्रपर तुम विश्वास नहीं करते या

अपनी चिन्ता करना तुमने अभी छोड़ा नहीं। तो बोटमें बैठकर यह चिन्ता मत करो।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् ।

एक विशेष बात और है कि प्रेममें तो चिन्ताको स्थान नहीं। प्रेममें तो चिन्तन एक ही होता है प्रेमास्पदका और यह खोद–खोद कर मत देखो कि अकुंर पैदा हुआ कि नहीं। बार–बार बीजको निकालकर देखोगे तो बीज ही नष्ट हो जायेगा। अकुंर पैदा कहाँसे होगा ? बीजका वपन हो गया तो अब श्रद्धा रखो कि बीजका वपन हो गया। अब अनूकूल वायु और अनुकूल जल मिलेगा ही। इस बगीचेका ऐसा माली है कि उसका कोई बीज व्यर्थ नहीं जाता, उसमें फल लगेगा ही। सुन्दर सुगन्धित सुमनोंका विकास होगा ही। उस गंधसे वह बगीचा ही नहीं, उसके पाससे निकलनेवाले प्राणी भी सुगन्धका आनन्द लाभ अनुभव करेंगे। परन्तु उससे बगीचेकी खुदाई होती है, कुटवानेको तैयार रहना चाहिये। बगीचेमें प्रवेश करते ही फल मिल जाय–अकुंर तो पैदा हुआ ही नहीं और फल मिल जाय–और फल नहीं मिला तो उत्तेजित हो गये कि कुछ मिला ही नहीं। तो फिर साधन करो कोई बुरी बात नहीं। तुलसीदासजी ने कहा–

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
कर्म उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो सावन के अंधे ज्यों दीखत रंग हरो।।
चाटत रहो श्वान पातरि ज्यों कबहु न पेट भरो।
सो मैं सुमिरत राम सुधारस पेखन परसि धरो।।

अपना अनुभव कहने हैं कि कुत्तेकी भाँति झूठी पत्तल चाटता रहा और जब भजन करने लगा तो अमृतका परोसा हुआ थाल सामने आ गया। अन्तमें कहा जो किसी कविकी वाणी नहीं हो सकती–शंकरकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि यदि कुछ बचाकर कहता हूँ तो जीभ गल जाय–मुझे तो अपना भला राम नामसे ही लगा।

इसलिये अपने मनमें सन्देह मत करो। जिसको प्रेमके मार्ग पर जाना हो वह दूसरेके मार्गपर सन्देह करे नहीं, उसे बुरा बतावे नहीं, उसकी ओर ताके भी नहीं। और अपने मार्गको छोड़े नहीं ,अपनेमें हीनता देखे नहीं। अपने मार्गमें श्रद्धा कम न होने दे और चलता रहे। तो अन्तर्यामी भगवान् यह देखेंगे कि यह सचमुच मुझे चाहता है तो वे अपनी

कृपासे जीवन दर्शन करा देंगे। यह अपने साधनके बलपर सम्भव नहीं। हम सन्देह रहित होकर चलना शुरू कर दें।

जीवनकी सच्ची चाह हो और विश्वास हो। ये दो बातें हो तो काम बन जाता है। वृतियाँ बार–बार अस्त – व्यस्त होती हैं – इसका कारण यही है कि जीवनमें सच्ची चाह जागृत नहीं हुयी। हम संसारमें देखते हैं कि यह काम हमें करना है–यह निश्चय होते ही सारी इन्द्रियाँ–मन उस ओर लग जाते हैं। जहाँ श्रद्धा हुयी, विश्वास जागृत हुआ, चाह पैदा हुयी कि तत्परता हो जायगी। बस फिर सब काम अपने आप हो जायगा।

अमोघ साधन

शरणागति एक सुन्दर साधनाकी धारा है, जिसमें साधक परतन्त्र हो करके साधना करता है। शरणागतिका अर्थ ही है परतन्त्र–साधना। अपने–आपको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर जो शरणागत हो गया, उस शराणागत भक्तको सब प्रकारसे निर्भय कर देना भगवान्‌का व्रत है–

'व्रतं मम ।' 'प्रपन्नाय............याचते।'

प्रत्येक साधनामें, साधनके मार्गमे जिस प्रकार पथिकको पाथेयकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सदाचारकी आवश्यकता होती है तथा सदाचारके लिये यम–नियम एवं दैवी सम्पत्ति आदि आवश्यक होते हैं। भागवतोक्त ४६ धर्म भी आवश्यक हैं। जैसे किसी भी मकानको खड़ा करनेके लिये उसकी नींवकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सदाचारकी नींवके बिना साधनाका प्रासाद खड़ा नहीं हो सकता। उपनिषद्‌में आया है–'जो दुश्चरित्र हैं, असमाहितचित्त हैं, उन लोगोंको परमात्माका ज्ञान प्राप्त नहीं होता।' इसलिये सदाचारकी बड़ी आवश्यकता है। इसके साथ–साथ एक विलक्षण वस्तु और भी है जो नींव भी लगा देती है और महल भी उठा देती है तथा रक्षा भी करती है, वह है भगवान्‌की कृपा। भगवत्कृपाका अवलम्बन लेकर सच्चे हृदयसे कृपाका आश्रय करें तो असमर्थके सामर्थ्य हैं भगवान्, निर्बलके बल हैं भगवान्। वे सहज ही हमारी सारी निर्बलता, सारा असामर्थ्य, हमारा सारा अपौरुष और हमारी

सारी कलुषित वृत्तियोंका समापन कर सहज ही हमारे सारे कार्योंको अपने बलसे सुसम्पन्न कर देते हैं—सफल कर देते हैं, परन्तु भगवान्‌की कृपाका आश्रय अधूरा न हो।

जिस प्रकार रोगाक्रान्त व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण व्याधियोंसहित किसी निपुण वैद्यके पास जाय एवं विश्वासपूर्वक निष्कपट होकर कह दे कि मेरे पास तो न कोई बल है न शक्ति है। मैं कुपथ्य भी करता हूँ, परन्तु अब आपके संरक्षणमें आ गया। आप अपने आश्रयमें रखकर मेरी चिकित्सा कीजिये। जैसे अस्पतालमें रोगियोंको रखनेके लिये चिकित्सा—कक्ष होते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌के चरणाविन्दमें सारे भवरोगके रोगियोंको रखकर चिकित्सा करनेके लिये बड़ा बृहद् चिकित्सा—कक्ष है। पर इसमें यही बात है कि उन्हींको वहाँ स्थान मिलता है, जो अपने सभी दूसरे आश्रयोंको छोड़कर वहाँ रहना चाहें। अपने—आपको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर परतन्त्र हो जाय—स्वतन्त्र सत्ता सर्वथा समाप्त हो जाय—शरीर रोगी है, अन्तःकरण मलिन है, दुर्बलताएँ हैं,कुपथ्य भी करता है, पर सब कुछ सौंपकर निश्चिन्त हो जाय—फिर उसे कुपथ्य करनेका अवकाश ही नहीं मिलेगा। चिकित्साकक्षकी नर्सेज, कम्पाउन्डर स्वतः ही कुपथ्यवाली वस्तुएँ पास नहीं आने देंगे।

इस चिकित्सा—कक्षकी एक और विचित्र बात है कि जबतक कोई रोगी यहाँ भर्ती नहीं होता है तबतक तो कोई बात नहीं, पर एक बार भर्ती होनेके बाद डॉक्टर उसके कुपथ्य आदिको छुड़ाकर, बिना रोग ठीक किये छोड़ता नहीं ।

सम्प्रदान एवं समर्पण—ये दो बार नहीं होते—यदि एक बार सम्प्रदान और ग्रहण हो जाय तो फिर भगवान् छोड़ना जानते नहीं, परन्तु अच्छे होनेकी तीव्र इच्छा होनी आवश्यक है। साधक अपनेको सर्वथा असक्त, निर्बल, असहाय एवं अकिंचन समझकर समर्थ प्रभुके शरणापन्न हो जाय तो भगवान् उसे अभयदान दे देते हैं।

प्रेमके नामपर, ज्ञानके नामपर, भक्तिके नामपर जो लोग दम्भ करते हैं, वे तो साधक ही नहीं हैं। वे तो दम्भी हैं, दुराचारी हैं। वे तो मात्र अपने नीच स्वार्थ— सिद्धिके लिये जोश भरते हैं, उनकी तो चर्चा ही नहीं हैं। चर्चा है उन साधकोंकी, जो असली हैं। वे सर्वथा अपनेको असमर्थ समझकर भगवान्‌के चरणाविन्दमें भर्ती हो जायँ, जहाँ अच्छे

सदस्य और सबल उपचारक हैं, सजग प्रहरी हैं, जिनकी सुगठित देख–रेखमें कुपथ्यकी सम्भावना नहीं है–दु:संगमें पड़कर अधोगामी होनेकी कल्पना नहीं, दुष्प्रवृत्तियोंका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं है। कुपथ्यका बस....... सौंपना हैं। अपने–आपको निर्बल मानकर–जिन्होंने रामके बलका आश्रय कर लिया, उन्हींके बल राम होते हैं–**'निर्बलके बल राम।'** बलवान्‌के बल भी राम ही हैं, पर बलवान् रामके बलको मानता नहीं, वह अभिमानके बलको मानता है । पर जो निर्बल है, भगवान्‌का बल मानता है तो भगवान्‌का बल उसकी रक्षा करता है। श्रीमद्‌भागवतकी प्रसिद्ध कथा है–'एक गजराज अरण्यमें रहता था। बड़ा बलवान् यूथपति था। उसकी सेनामें हजारों बड़े भारी हाथी और हथिनियाँ थीं। सम्पूर्ण बृहद् वन उसके द्वारा आक्रान्त था। पूरे जंगलमें पराक्रमका बोलबाला था। एक दिन गजराज सरोवरमें स्नान करने गया और स्नान करकेके बाद उसीमें खेलने लगा – क्रीड़ा करने लगा। इतनेमें ग्राहने उसका पैर पकड़ लिया। मदमत्त अभिमानी गजराजने सोचा क्या है यह जन्तु, अभी इसको पैरसे पीस डालता हूँ । पाँव छुड़ानेकी बहुत चेष्टा की, पर ग्राहने छोड़ा नही, अन्य सभी हाथी–हथिनियाँ अपनेको बचाकर सहायताके उद्देश्यसे बाहर निकल आये ; अब ज्यों–ज्यों ग्राह अन्दर खींचने लगा, गजराजका शरीर अन्दर जाने लगा, तब उसने अपने .साथियोंको पुकारा। सभी साथी सहायतामें तत्पर हो गये। वे एककी पूँछको दूसरेके सूँडमें पकड़–पकड़कर लम्बी कतार बना लिये। सभी जोर लगारकर बाहार खींचने लगे, लेकिन जलमें ग्राहका बहुत जोर था। गज और ग्राह दोनों पहलेसे शापग्रस्त थे। ग्राहका जोर इतना जबर्दस्त था कि उस मदमत्त हाथीके सभी साथी खिंचकर जलमें जाने लगे। 'एकके पीछे सभी मर जायँ यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है।'–यह सोचकर सब अलग हो गये। गजराजको ग्राह जलमें खींच ले गया। एक झटकेकी देर थी, उसके पूर्णतया जल–निमग्न होनेमें । सूँड ही जलमें डुबनेसे बचा हुआ था। उसीसे उसने कमलका पुष्प उठा लिया। जबतक अपना, अपने साथियोंको भौतिक बल था, तबतक भगवान्‌ने उसे बचाया नही।–**'नेक सर्‌यो नहिं काम।'**–उसका जरा–सा भी काम सरा नहीं, परंतु जैसे ही **'निर्बल है बल राम पुकार्‌यो'**–गजराजने देखा कि कोई उपाय नहीं रहा, कोई सहायक नही, कोई आवाज सुननेवाला नही, कोई बचानेवाला नहीं, तब पुकारा उसने

नारायणको। 'नारा' शब्द आधा ही उच्चरित हो पाया था कि भगवान् प्रकट हो गये–**'आये आधे नाम निर्बलके बल राम ।'** आ गये और शरणागतको उन्होंने बचा लिया। इसी प्रकार द्रौपदीका दृष्टान्त देते है–

द्रुपद–सुता निर्बल भइ ता दिन तजि आये निज धाम।
दुःशासन की भुजा थकित भई बसन–रूप भे श्याम।।

दुष्ट दुःशासन, जिसकी भुजाओंमें दस हजार हाथियोंका बल था, राजरानी द्रौपदीके केशोंको पकड़े हुए राजदरबारमें ले आया। अत्यन्त क्रुर–हृदय वह दुःशासन उस समय द्रौपदीकी लज्जा हरण करनेके लिये तत्पर था। कोई छुड़ानेवाला नहीं, अब वह बिचारी क्या करे–उसने पाण्डवोंकी ओर देखा, वे सिर नीचे किये हुए हथियार अलग रखे है, वे तो दे चुके, हार चुके हजारों–हजारों बड़े–बड़े लोगोंके सामने। अत्यन्त बलवान् पाँच पतियोंके सामने उसका भयानक तिरस्कार होने लगा। भीष्म भी बैठे हुए थे, द्रोण भी बैठे हुए थे, लेकिन मानो सबका स्वत्व निकल गया हो, किसीने विरोध नहीं किया। इतना.बड़ा जघन्य अपराध और सभी नीतिज्ञ, शास्त्रज्ञ, वीर, प्राक्रमी मौन। दुःशासन केश पकड़कर खींच ले आया। द्रौपदीको नंगा करना चाह रहा है, इंगित कर रहा हैं, कपड़ेको अलग करके जाँघ दिखा करके कि इसपर बैठ जाओ। इस दुर्दशाके समय द्रौपदी निर्बल हो गयी, असहाय होकर पुकार उठी–'द्वारकावासिन् ! गोविन्द ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब गयी, तुम आओ, आकर बचाओ' तो **'बसन–रूप भे श्याम'**– भगवान्का वस्त्रावतार हो गया, यह नवीन अवतार। भगवान्ने रजस्वला स्त्रीकी साड़ीका अवतार ले लिया – दे दिया शरणागतको अभय–दान–**'दुशासनकी भुजा थकित भई'** **'दस हजार गज–बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर।** '–दुःशासनका बाहुबल परास्त हो गया, हारकर लज्जित होकर संकुचित होकर बैठ गया। **'आये निर्बलके बल राम।' 'अपबल तपबल और बाहुबल चौथो बल है दाम, सूर किशोर कृपा ते, सब बल हारेको हरिनाम।'** ये जितने भी प्रकारके बल हैं – अपबल, तपबल, बाहुबल और धनबल–ये सब–के–सब श्यामसुन्दरकी कृपासे प्राप्त होते हैं। निःसाधनका साधन, निर्बलका बल हैं भगवान्का आश्रय, भगवान्का नाम–द्रौपदी पुकार उठी, भगवान् आ गये।

इसी प्रकार जब मनुष्य घबरा जाता हैं अपने पापोंसे, अपने बुरे स्वभावसे और रोता है उससे छूटनेके लिये तब वह सबल भगवान्का

विश्वास करके, उनकी कृपाका विश्वास करके उनके चरणोंमें गिर पड़े – जिस अवस्थामें है, उसी अवस्थामें वैसे ही पड़ा–पड़ा वहींसे विश्वासपूर्वक पुकार उठे–' हे नाथ ! तुम बचाओ दूसरा कोई नहीं है बचानेवाला।' इस प्रकार जो शरणापन्न होकर कृपाका आश्रय करना है, यह इतना बड़ा बल है कि इसके प्रभावसे भगवान्का बल, भगवान्की कृपाका बल लग जाता है, जुड़ जाता है, जुट जाता है, उसके रक्षणमें – उसको बचानेमें। तो जब भगवान् संलग्न हो जाते हैं किसीकी रक्षामें तो वे अनहोनी कर देते हैं। भला किसीने सुना है आजतक कि अपनी कनिष्ठिका अँगुलीपर कोई छोटा–सा पहाड़ उठा ले, सात दिनतक उठाये रखे, हिलनेतक न दे उसको और उसके नीचे निर्भय होकर हजारों–हजारों प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षा कर सकें – यह क्या है – **'निर्बलके बल राम।'**

व्रजवासियोंके बल एकमात्र श्यामसुन्दर। जब वनमें आग लगी तब गोपबालकोंने कहा–अरे डरे क्या ? कन्हैया तो साथ है अभी पी जायगा–इसका नाम विश्वास–मानो उसमें अविश्वासकी छाया ही नहीं–अविश्वास की छाया जहाँ आती है, काम नहीं बनता और अपना बल जहाँ बीचमें आता है, वहाँ भी काम नहीं बनता ।

भगवान्की कृपापर विश्वास हो और अपने दैन्यपर विश्वास हो तो यही परम साधन है–जो अपने–आप सारी साधनाको सम्पन्न करता है– **'माच्चित्तः सर्वदुर्गणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'** भगवान्ने उद्घोष किया गीतामें। सारी कठिनाइयोंको तुम लाँघ जाओगे मेरी कृपासे। उनकी कृपा जब क्रियाशील होती है तब क्षणमात्रका भी विलम्ब नहीं होता है। भगवान्का संकल्प और संकल्पकी सिद्धी–ये दोनों एककालीन होते हैं – एक–के–बाद एक नहीं होता – परन्तु सबसे बड़ी साधना है – भगवान्का विश्वास। हम भगवान्पर विश्वास करके उनके ही हो जायँ, वे दीनबन्धु अशरणशरण भगवान् अपनी कृपासे सारा काम कर देते हैं। असम्भवको सम्भव कर देते हैं। ईश्वर–शरणागति एवं भगवत्प्रपत्तिसे अधिक कोई साधन नहीं है।

अभिमान मीठा जहर है–यह सारी साधनाओंको खा जाता है – बड़ा घातक होता है। भागवतमें आया है–दैवीसम्पत्तिवान् पुरुष भी यदि ईश्वरका आश्रयी नहीं है तो उसके मनमें अभिमान पैदा हो जायेगा कि हम सच बोलनेवाले, हम सदाचारी, हम इन्द्रियोंको रोकनेमे समर्थ, हम मनको

रोकनेमें समर्थ हैं। यह साधनाका अभिमान बहुत तंग करता है। दृष्टान्त आता है – नारदजीने अपनेको मान लिया हम कामविजयी हैं – अभिमान हो गया उन्हें। भगवान् शंकरके पास पहुँचे, बोले – महाराज ! भगवान्‌की दया हुई, एक घटना ऐसी हुई जिसमें दासकी विजय हो गयी। शंकरजी बड़े समझदार – उन्होंने नारदजीको समझाया, यह सब बात नहीं करनी चाहिये। यह मनमें भी नहीं लानी चाहिये। नारदजीने बोले– क्यों ? इसमें बात क्या है ? सच्ची घटना तो सुनाते हैं। शिवजी बोले–नारदजी ! भगवान् विष्णुसे, यह न कह दीजियेगा। नारदजीने सोचा क्यों नहीं कहेंगे, अब जरूर कहेंगे और कहनेके लिये जा पहुँचे वैकुण्ठ।

जगज्जननी रमा बैठीं अन्तःपुरमें । बड़ी घनिष्ठता भगवान् विष्णुसे नारदजीकी–सहज प्रवेश था। सर्वत्र–अन्दर पहुँच गये तो रमाजी उठ गयीं वहाँसे। वे बोले–माताजी ! क्यों उठ गयीं। हमारे मनमें स्त्री–पुरुषका कोई भेद है नहीं। अभी–अभी यह घटना हुई और महाराजने कह दिया वहाँपर। भगवान्‌ने मनमे सोचा कि हमारे भक्तको तो रोग लग गया। सबसे बड़ा अभिमानका रोग होता है। भगवान्‌ने देखा कि रोगमुक्त करना पड़ेगा नारदको। बंदरका मुँह दे दिया–कुपित हो गये नारद। भगवान् तकको शाप दे बैठे। तो यह साधनाका–ज्ञानका अभिमान बहुत तंग करता है मनुष्यको।

विनम्रभावसे भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके अपने दैन्यको भगवान्‌के सामने प्रकट करके रखे तो साधनासे जो काम नहीं होता, वह काम अनायास भगवान्‌की कृपासे हो जाता है।

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना सबसे बड़ा निर्भय स्थान है। जहाँ जानेपर सब विघ्न अपने–आप दूर हट जाते हैं।

इन्द्रियोंको एक बार जरा–सा रोक करके भगवान्‌का आश्रय कर ले – स्वीकार कर ले–कह दे कि 'प्रभो, हमारे वशकी बात नहीं, अब तुम सँभालो अपना'–जहाँ कहा तुम सँभालो, उन्होंने आ करके अपना कब्जा कर लिया। उनका कब्जा हो जानेके बाद किसकी ताकत है कि उनका कब्जा हटाकर अपना कब्जा कर ले। उनके अधिकारमें अपनेको दे दे–सौंप दे।

भगवान्‌में एक बड़ी सुन्दर बात है, वे हमारा आचरण देखते नहीं। वे देखते हैं कि यह रोगी अपनेको मानता है या नहीं। मेरी दवा लेना

चाहता है या नहीं-बस रोगी अपनेको मान लिया और उनको कह दिया-'प्रभो, आप ही मेरी चिकित्सा करें' तो वे तो दवाकी पेटी ले तैयार बैठे ही हैं।

उनकी नौका भव-समुद्रको तारनेके लिये तैयार है। थोड़ी देरके लिये भी कभी विराम लेती नहीं, अनवरत अनादिकालसे चलती रही है-चलती रहेगी। जो कोई उस नावपर बैठना चाहे उसके लिये तैयार खड़े पुकार रहे हैं-'आ जा भाई पार उतारते हैं – आ जाओ – आ जाओ कोई भी – कैसा भी हो आ जाओ।' **'अहं संसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि नचिरात्'** – यह उनकी वाणी है-उनका उद्‌घोष है। चलो संसार-सागरसे बहुत जल्दी मै पार कर दूँगा। गीतामें भगवान्‌के शब्द हैं-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।
(१२।७)

जो मुझमें ही मन लगा चुके, जो मुझपर अपनेको छोड़ चुके, जो मुझपर निर्भर हो गये- अभी तरे नहीं हैं-तरना चाहते हैं तो मैं अवश्य तारता हूँ, बस मेरी नौकामें आकर बैठ जाय-**'नचिरात्'** – चुटकी बजाते ही, देर नहीं है, भला जहाँ नावमें बैठा पार हो गया। देर नहीं होगी-कहाँसे पार करोगे? तो कहा-इस मौतके समुद्रसे **'मृत्युसंसारसागरात्'**- यह है भगवान्‌की घोषणा-बस, सवार हो जाय किसी भी तरहसे एक बार नौकापर-न तैरनेकी आवश्यकता होगी, न हाथ-पैर हिलानेकी, न पानी उलीचनेकी और न डाँड खेनेकी-न जीव-जन्तुओंका डर, न दम टूटनेका भय। अविलम्ब पार लग जाओगे।

इस प्रकारसे भगवान् निरन्तर हमें, बिना किसी शर्तके, बिना हमारा कुछ देखे-सुने, बिना हमारे पूर्व इतिहासपर विचार किये हमको स्वीकार करनके लिये सतत् तैयार हैं। अहर्निश उनका दरबार शरणागतोंके लिये खुला है-कोई पुकारे-कभी भी पुकारे-कहीं भी पुकारे वहीं, तभी, वैसे ही आनेको तैयार.........यह सर्वोत्तम साधन है – सीधा सुगम मार्ग...। इस मार्गपर चलनेके लिये मात्र आवश्यकता है विश्वासकी।

भगवान्‌पर विश्वास आते ही भोगका विश्वास हट जाता है और भोगका विश्वास हटते ही भोग-सुखकी सारी आस्था मिट जाती है। इसके बाद दुराचार रहता ही नहीं-बुराई रहती ही नहीं। जैसे सूर्यका

प्रकाश तुरन्त अंधकारको खा जाता है, उसी प्रकार भगवद्विश्वास भोग–विश्वासको रहने नहीं देता और भोग–विश्वास जहाँ जीवनसे हटा वहाँ तुरन्त सभी दुर्गण–दुराचार जो भोग–कामनाको लेकर उत्पन्न होंगे स्वतः समाप्त हो जायँगे।

सबसे बड़ी साधना है भगवान्‌का विश्वास एवं सबसे बड़ा गुण है साधककी निरभिमानिता–अभिमानशून्यता। दैन्य–भावसे अशरणशरणकी शरणमें चले जाओ, जीवन धन्य हो जायगा।

भगवान्‌की प्रेम–परवशता

आस्तिकताका सिद्धान्त है कि 'भगवान् अन्तर्यामी हैं।' हमारे मनके अत्यन्त गुप्त स्थलमें जहाँ बहुत बार हम भी नहीं पहुँच पाते, वहाँ भी भगवान् विराजित हैं और वहाँ जो कुछ हो रहा है, उसे वे निरन्तर देख रहे हैं। भगवान्‌से छिपकर या छिपाकर कोई काम हम कभी नहीं कर सकते। भगवान्‌को माननेवाला आस्तिक पुरुष कभी छिपकर पाप नहीं कर सकता। वह जानता है कि जिस गुप्त स्थानमें हम जो कुछ करते हैं, उसे देखनेवाले पहलेसे वहाँ उपस्थित हैं। हमारी तथा हमारे मनकी प्रत्येक क्रिया और हमारी चित्तवृत्तिकी प्रत्येक चेष्टा एवं प्रत्येक बात भगवान् जानते हैं। भगवान्‌के सामने कुछ भी छिपाकर हम रख नहीं सकते। ,जहाँ–जहाँ हम छिपाकर रखना चाहते हैं, वहाँ–वहाँ हमारी आस्तिकतामें कमी है अथवा ऐसा कहना चाहिये कि वहाँ–वहाँ हम भगवान्‌को नहीं मानते। आस्तिक पुरुष तो निरन्तर भगवान्‌के सामने रहता है तथा निरन्तर भगवान्‌को अपने सामने रखता है। यही सच्ची आस्तिकता है। जो ऐसा करता है भगवान् उसकी आँखोंसे कभी ओझल नहीं होते । गीतामें भगवान् कहते है–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वम् च मयि पश्यति।
तस्यांह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। (६।३०)

'जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं

कभी दूर नहीं होता और वह कभी मुझसे दूर नहीं होता।'

केवल आस्तिकता मनुष्यमें आ जाय तो उसके सारे काम बन जाते हैं। आस्तिकताका बहुत बड़ा आदर्श प्रह्लाद हैं। यद्यपि अबतक कितने ही आस्तिक हुए हैं, परन्तु प्रह्लादकी आस्तिकता अत्यन्त महान् थी। किसी अवस्थामें भी प्रह्लादके मनमें यह विचार नहीं आया कि यहाँ मेरे रक्षक भगवान् नहीं हैं। एक बार हिरण्यकशिपुने उन्हें मारनेके लिये बड़े भारी जहरीले नागोंके सामने डाल दिया, परन्तु प्रह्लादके मनमें आया कि जो भगवान् मेरे अन्दर हैं, वे ही तो इन नागोंके अन्दर भी हैं। फिर इनका विष मुझपर कैसे असर करेगा ? यद्यपि यह बात व्यवहारसे परे की है, परन्तु प्रह्लादकी आस्तिकताके कारण साँपोंके डँसनेपर भी वे नहीं मरे। जहर पीनेपर एवं अग्निमे डालनेपर भी प्रह्लाद जीवित रहे। कृत्याके द्वारा प्रहार करनेपर प्रह्लादका विनाश नहीं हुआ। प्रह्लादने सब जगह सब समय अपने भगवान्‌को देखा और उन्हें रक्षकरूपमें उपस्थित पाया। अन्तमें प्रह्लादको गोदमें बैठाकर हिरण्यकशिपुने समझाते हुए पूछा कि 'बेटा ! तुम इतना बढ–बढ़कर बोलते हो, क्या तुम्हें डर नहीं लगता ? सारे देव और जगत हिरण्यकशिपुके नामसे त्रस्त है। और तुम जरा भी नहीं डरते, तुम्हारे पास कितना बल है ?' प्रह्लादने बड़ी शान्ति तथा सरलतासे सहज भाषामें कहा–'पिताजी ! जिसके बलसे आप बलवान् हैं तथा जिसके बलसे सारा जगत् बलवान् है एवं जहाँसे सारा बल आता है, उसीके बलसे मैं बलवान् हूँ तथा बोलता हूँ।' यह सुनकर हिरण्यकश्पिुके मनमें रोष आ गया। उसने पूछा–'जिसके बलसे तू इतना इतराता है, वह तेरा भगवान् कहाँ है ? 'प्रह्लादने उत्तर दिया–'वे कहाँ नहीं है ? आपमें हैं, मुझमें हैं, बाहर हैं, भीतर हैं रात्रिमें है, दिनमें हैं, संध्यामें हैं, पशुमें हैं, पक्षीमें हैं, जड़में हैं, चेतनमें हैं, वृक्षमें हैं, पहाड़में हैं, वे सब जगह हैं सब समय हैं।' पह्लादकी आस्तिकता अनुपम थी। इतनी श्रद्धा एवं विश्वासके साथ जब प्रह्लादने ये बातें कहीं तो हिरण्यकश्पिुका क्रोध और बढ़ गया तथा उसने उन्हें खम्भेंमें बाँध दिया और पूछा–'बता तेरा वह भगवान् इस खम्भेमें है ?' प्रह्लादको जैसे कोई दीख रहा हो, उन्होंने निर्भयता पर बड़ी सरलताके साथ उत्तर दिया–हाँ, है।' यह सुनते ही हिरण्यकशिपुने बड़े जोरसे खम्भेपर घूँसा मारा, जिससे खम्भा फट गया, बडे जोरकी आवाज हुई और दिशाएँ दहल गयीं। सारा दरबार थर्रा उठा। उस

खम्भेसे आधा नर एवं आधा सिंहका शरीर धारण किये बड़ा विकराल रूप निकला, जिसके चारों ओर सैकड़ों हाथ थे तथा दो क्रूर आँखोंसे अंगारे निकल रहे थे। उनके उस क्रोधभरे मुखको देखकर सारी सभा संत्रस्त हो गयी। भगवान् प्रकट हो गये तो रिपुका दैत्य–दल भागने लगा।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् खम्भेसे क्यो प्रकट हुए ? भगवान्‌तो सब जगह हैं ही, वे चाहे जहाँसे प्रकट हो सकते थे ? इसका उत्तर देते हुए भगवतकार कहते है–

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मन :।
अदृश्यतात्यद्‌भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्।।

(श्रीमद्‌भा० ७।८।१८)

क्योंकी अपने सेवक प्रह्लादके मुखसे यह निकल गया था कि 'खम्भेमें भी हैं।' अतः उनकी बातको प्रत्यक्षरूपसे सत्य कर दिखालानेके लिये ही वे खम्भेमेंसे प्रकट हुए। यह प्रह्लादकी महान् आस्तिकताका परिचायक है। किसी भी समय प्रह्लादके मनमें यह नहीं आया कि भगवान् नहीं हैं, इसलिये उन्होंने भगवान्‌से कभी कुछ माँगा नहीं। हमलोग दुःखनाशके लिये या किसी वस्तुके प्राप्तिके लिये भगवान्‌को भजते हैं। यद्यपि यह भजन ही है, पर यह वास्तविक भजन या वास्तविक भक्ति नहीं है। जब प्रह्लादसे भगवान्‌ने कहा कि 'बेटा प्रह्लाद ! कुछ माँगों।' तब प्रह्लादने उत्तर दिया–'महाराज ! स्वामी और सेवक–आपमें और मुझमें माँगनेकी बात कैसे हुई ? आप कैसे कह रहे हैं कि तुम कुछ माँगों और कुछ ले लो ? जो ले लेता है वह क्या सेवक है ?'

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करूणात्मनः।
यस्त आशिष आशान्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।।

(श्रीमद्‌भा० ७। १०। ४)

वह तो लेन–देन करने वाला व्यापारी है। एक वस्तु दी और उसके बदलेमे मूल्यले लिया। वणिक् अर्थात् व्यापार करनेवाला–लेन–देन करनेवाला वह व्यापारी है, भक्त नहीं–'**न स भृत्यःस वै वणिक्।**' प्रह्लादके मनमें कभी कुछ माँगनेकी बात नहीं आयी। क्यों नही आयी ? वे परम आस्तिक होनेके कारण इस बातको जानते हैं कि सब जगह भगवान् हैं,

सबमें भगवान् हैं, सारी क्रियाओमें भगवान् हैं। भगवान्‌के सिवा कहीं कुछ है नहीं और होता नहीं। ऐसी अवस्थामें भगवान्‌से क्या माँगे ? यह तो परम आस्तिकताकी बात हुई, किन्तु इससे पहले भी वास्तवमें भगवान्‌को माननेवाला उनके सामने इसी रूपमें देखे जाते हैं कि 'महाराज ! हम कहें क्या ? आप तो हमारे अन्तरकी बात जाननेवाले हैं।' किन्तु भगवान् बड़े क्षमाशील हैं, बड़े कोमल-स्वभाव हैं। वे भक्तके मुखसे उसके हृदयकी बात सुनना चाहते हैं। हृदय दो तरहका होता हैं-एक हृदय होता है पश्चात्तापसे भरा तथा दूसरा हृदय माधुर्य रस भरा। ये भक्तिके दो स्तर हैं। जहाँ भक्ति नहीं और भक्तिके विरोधी कार्य ही जीवनमें बनें तथा विरोधी कार्योकी स्मुतिसे मनमे प्रश्चात्ताप हो रहा हो, वह भक्त अपने मनको भगवान्‌के सामने खोलकर रखता है तथा कहत ३ कि 'महाराज ! इस मनमें भरे हैं काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर - दुनियाके सारे दोष, अघ और पाप। जीवनमें ऐसा कोई काम मुझसे हुआ ही नहीं, जिसके लिये कहा जाय कि मैं पापसे शून्य हूँ।' पापका मूल है कामना, जहाँ भी जीवनमें कामना है वहाँ पाप है। कामनाशून्य कर्म ही निष्पाप कर्म होता है। वह कहता है मेरे जीवनमें मैने अच्छा काम भी यदि कभी किया हो तो वह भी कामनायुक्त है। भक्तलोग कहते है कि भगवान्‌के लिये सुरक्षित हृदयके परम और दिव्य आसनपर किसी भोगको लाकर बैठा देना भगवान्‌का तिरस्कार करना है। जैसे हमारे घरमें कोई सम्मान्य अतिथि या पूज्य भक्त आया हुआ हो, उसके बैंठनेके लिये आसन बिछा हो, उस आसनपर लाकर हम भंगीका झाड़ू रख दें तो जिस प्रकार उसका प्रत्यक्ष तिरस्कार है, इसी प्रकार भगवान्‌के बैठनेके स्थानपर-प्रेमके उस आसनपर हम यदि किसी विषय या भोगको बैठा देते हैं तो उसे गंदा कर देते हैं। यह भगवान्‌का तिरस्कार है।

भक्तलोग कहते है कि भगवान्‌के स्थानपर कहीं भी किसी प्रकारकी भी आकांक्षा हमारे हृदयमें न जग जाय। वे डरते हैं कि कहीं मोक्षकी भी कामना आ गयी तो उस आसनपर कलंक लग गया-

न मोक्षस्याकाङ्क्षा वरविभववाञ्छापि च न मे'

शंकाराचार्य कहते है कि भगवती ! न तो मेरे मनमें मोक्षकी आकाङ्क्षा है न वैभवकी। तुम्हारे स्थानमें तुम्हीं रहो। चैतन्यमहाप्रभुने कहा है-

न धनं न जनं सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि।।

'हे जगदीश्वर ! मेरे मनमें न धनकी कामना है न जनकी, न सुन्दर कविताकी ही कामना है ; अपितु मेरे जन्म–जन्ममें आपकी अहैतुकी भक्ति मुझे प्राप्त होती रहे।'

उन्होंने यह नहीं माँगा कि मेरा जन्म होना बन्द हो जाय ; क्योंकि यह भी कामना है। भगवान्‌के स्थानपर यदि अपने किसी सुखकी इच्छा अथवा मोक्षकी भी कामना आ गयी तो भी भक्त यह समझता है कि मलिनता आ गयी। अर्थात् मोक्षमें भी 'अहंके बन्धनकी चिन्ता है ? 'अहं'में यदि बन्धन नहीं है तो मोक्ष किस बातका ?' मुक्ति सदा किसी बन्धनकी अपेक्षा रखती है !जहाँ मनको बन्धनसे मुक्त करनेकी वासना है या कामना है वहाँ मलिनता है। भक्त डरते हैं कि हमारे मनमें कामना न पैदा हो जाय और विषय–कामनाको तो वे बहुत बड़ा अपराध मानते हैं, पाप मानते हैं। जरा–सी भी कामना यदि आ जाती है तो वे समझते हैं कि हमारे समान बुरा कौन है ? –

'मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी।।

सूरदास–सरीखे महात्मा पुरुष भी यह कहते है कि भगवान् ! मेरे समान कुटिल, खल तथा कामी दूसरा कौन होगा ? मैंने आपको भुला दिया। भगवान्‌की जरा–सी देरकी विस्मृति भी उनके मनमें भयानक पाप–सा लगने लगती है।

भगवान्‌की स्मृति क्षणभरके लिये भी यदि चित्तसे हट जाती है तो भक्त उसे महापाप या अपराध मानते हैं। भक्तका भाव यह है कि हमारे जीवनमें ऐसी कोई स्थिति आयी ही नहीं जब हम निष्पाप रहे हों। परंतु भगवन् ! आप अन्तर्यामी हैं। आप हमारे मनकी प्रत्येक स्थितिको पहचानते हैं। आप हमारे बुरे कृत्यों तथा स्वभावकी ओर न देखें। आप अपने शील–स्वभाव तथा विरदकी ओर देखें और हमें उबार दें। इस प्रकार एक तो होता है पश्चात्तापका हृदय और दूसरा होता है मधुरिमासे भरा हुआ भक्तका हृदय, जहाँ कभी किसी प्रकारकी कामना जागती हीं नहीं। यदि कामना जागी भी तो केवल भगवान्‌को प्रसन्न देखनेकी ही। इस हृदयमें उबरनेकी प्रार्थना नहीं होती। वहाँ निरन्तर यह प्रार्थना होती है कि

क्षणभरके लिये भी आपका यह मधुर स्मरण चित्तसे न हट जाय। स्मरणके कई प्रकार हैं, जैसे–भयसे किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी कामनासे, कौतूहलसे, आवश्यकतासे, किसी वस्तुके लोभसे, किसीसे वैर होनेसे आदि। परन्तु सर्वोत्तम स्मरण वह है, जिसके होनेसे चित्तमें मिठासका अनुभव हो तथा अत्यन्त मधुर रस चित्तमें अपने–आप बहने लगे। इस प्रकारकी जो मधुर स्मृति है, वह सुधाभरी स्मृति है, जिस स्मृतिमें मधुर अमृत भरा है, बस ऐसी स्मृति निरन्तर चित्तमें बनी रहे – यही उस मधुर हृदयकी प्रार्थना होती है। यह बड़ी ऊँची वस्तु है। यह प्रार्थना जहाँ होती है, वहाँ तो सारी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। अतः हमलोगोंको भगवान्‌के कोमल हृदय, सुहृदयता, अहैतुक दया, करुणामयता तथा दयालु स्वभावपर विश्वास करके निर्भय होकर उनके सामने अपने पापोंको प्रकट कर देना चाहिये। भगवान्‌से कहना चाहिये कि भगवान् ! जितने पाप अबतक हुए हैं उनसे तो आप हमारा उद्धार करें ही, भविष्यमें भी हमारे मनमें किसी प्रकारकी पाप या बुराईकी कामना न जागे इसकी भी सँभाल आप रखें।

यदि हमारे मनमें ठीक विश्वास है, अपनी बुराईयोंके लिये पश्चात्ताप है तो हमारी प्रत्येक बातको भगवान् मान लेंगे। स्वाभाविक बात है कि जिसके स्वभावमें दयालुता होती है, वह न्याय भी नहीं देखता । भगवान् न्यायकारी और दयालु हैं। दोनों ही बातें ठीक हैं। परन्तु भगवान्‌की दयालुता न्यायभरी है। और न्याय, दयासे परिपूर्ण है। इसलिये उनकी दयामें अन्याय नहीं होता।

भगवान् तो दया ही करते हैं। जैसे माँके सामने जब बच्चा रोने लगता है तो बच्चा क्या अपराध करके आया है, किस प्रकारका कुपथ्य करके आया है, इसे माँ भूल जाती है। वह उसके रोनेको देखकर उसे गोदमें लेकर फुसलाने लगती है, हाथ फेरने लगती है, सहलाने लगती है, जिसके उसका रोना बन्द हो जाय और वह सुखी हो जाय। इसी प्रकार हमें भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास करना चाहिये। हमें मनमें यह निश्चय करना चाहिये कि भगवान् चाहे दण्ड भी देंगे तो उसमें उनकी दया भरी रहेगी। एक व्यक्ति किसीको दुःखी बनानेके लिये उसे चाकूसे काटता है, पर एक डॉक्टर किसीको चाकूसे दुःखहरण करनके लिये काटता है। दोनों ही काटते हैं, परन्तु भगवान्‌का दण्ड डॉक्टरके आपरेशनकी भाँति नीरोग करनेके लिये है, न कि उसे दुःखी देखकर सुखी होने के लिये ।

बच्चेको माँ यदि चपत लगाती है तो उसके हृदयमें बच्चेके प्रति कहीं द्वेष नहीं होता। बच्चेको दुखी देखकर माँ सुखी हो जाय, यह तो माँके हृदयकी कल्पनामें भी नहीं आ सकती। उसी प्रकार भगवान् कहीं हमें दण्ड देंगे तो हमारे परम कल्याणके लिये ही होगा। सच्ची बात तो यह है कि भक्त यही समझेगा कि भगवान् दण्ड देना जानते ही नहीं। वे हमारे माता–पिता, स्वजन और स्वामी हैं। जैसे माता–पिता बच्चेके दुःखको नही देख सकते, स्वामी अपनी पत्नीके दुःखको नहीं देख सकता, मित्र मित्रके दुःखको नहीं देख सकता, उसी प्रकार भगवान् हमारे दुःखको देख नहीं सकते। अतः वे दण्ड देंगे कैसे ? क्योंकि हमारा दुःख तो उनका दुःख है। यह स्वाभाविक है कि स्नेही तथा स्नेहास्पदका सम्बन्ध होनेपर एकका दुःख दूसरेका दुःख हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् अपने प्रेमी भक्तको दुःखी देखकर सुखी नहीं हो सकते । इसलिये प्रेमी अपने मनमें विश्वास करता है कि भगवान् दुःख कभी दे ही नहीं सकते। हमें दुःख देनेका अर्थ है, उनका अपने–आप दुःख सहना। राजाके स्वरूपमें भगवान् रामने सीताका त्याग कर वनवास तो दे दिया, पर स्वामीके रूपमें सीताके वनवासका दुःख श्रीरामका दुःख बना रहा। उत्तररामचरितमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। राजा राम नहीं, सीताके पति राम निरन्तर सीताके दुःखसे दुःखी हैं। सीताका दुःख उनका दुःख था। उन्होंने सीताको वनवास देकर अपनेको वनवास दिया। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने सीताको परायी समझकर अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये निकाल दिया। सीताको निकालनेका अर्थ है इनका अपनेको निकाल देना। सीताका दुःख उनका अपना दुःख है। इस प्रकार भगवान् अपने भक्तके दुःखको अपना दुःख, भक्तके संकट को अपना संकट तथा भक्तकी पीड़ाको अपनी पीड़ा मानते हैं। जहाँ वैर या द्वेष हो, वहाँ विरोधीके विनाशमें सुख होता है, दुःखमें सुख मिलता है। किन्तु जहाँ वैर नहीं है,प्रेम है, स्नेह है, अनुराग है वहाँ तो अपने प्रेमीका मरना सुन लेनेपर दुःख होता है। हमारे पुत्र, भाई, पति या हमारी स्त्रीको चोट लगनेकी बात सुनकर मनमें बड़ा दुःख होता है तो हम उन्हें चोट कैसे पहुँचायेंगें ? मारेंगे कैसे? हम उन्हें दुःख देगें कैसे ? अतः यह सिद्धान्त है कि स्नेहमें स्नेहास्पदका दुःख स्नेहीका अपना दुःख होता है तथा द्वेषमें या बैरमें वैरीका दुःख अपना सुख होता हैं, इसमें बड़ा अन्तर है। भगवान् किसीके भी वैरी नहीं

हैं। जहाँ प्रेमी भक्त हो वहाँ तो भगवान् उसके हृदयमें रहते हैं और अपने हृदयमें उसे रखते हैं। उसके दुःखसे स्वयं द्रवित हो जाते है। सीताको जब भगवान् राम वनमें खोजते फिरे तथा इसलिये रोये कि सीता रो रही है। तब सीताका रोना श्रीराममें प्रतिफलित हो गया। भगवान् किसीके वैरी नहीं और प्रेमीकी तो आत्मा ही हैं। प्रेमीको तो वे सदा अपने हृदयमें रखते हैं। वे सबके अन्दर हैं।

गीतामें भगवान्ने कहते हैं कि सारे प्राणियोंमें समान रूपसे मैं विराजित हूँ । न तो मेरा कोई द्वेषी है और न कोई विशेष प्रिय है। मै सबमें समान हूँ, किन्तु जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे मेरे हैं और उनका मैं हूँ। इसलिये जहाँ प्रेम है, भक्ति है, वहाँ भगवान् प्रेमीमें है और प्रेमी भगवान्में है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।

(गीता ९। २९)

श्रीमद्भागवतमें भगवान्की वाणी है कि साधु भक्त मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, क्योंकि वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते तथा मै इनके सिवा किसीको नहीं जानता। इसलिये वे मुझमें और मैं उनमें हूँ जहाँ ये सम्बन्ध है, वहाँ भगवान् दण्ड, दुःख या पीड़ा कैसे देंगे? जैसे व्यक्ति रोग–विनाशकके लिये अपने–आपको कड़वी दवा देता है तथा अंग कटवा लेता है। इसी प्रकार भगवान्का भक्तके प्रति प्रेमसे भरा हुआ व्यवहार होता है। उसमें कहीं द्वेष नहीं होता है । अतः भक्तको कभी यह बात सोचना ही नहीं चाहिये कि भगवान् मुझे दण्ड देंगे। मेरी आँखोंके आँसू क्या उनकी हँसी का कारण बनेगें ? मेरी आँखोंमें आँसू आयेंगे तो पहले उनके आयेगें। मैं रोऊ और वे हँसते रहें–यह बड़ी विचित्र बात है। हिडिम्बा राक्षसीसे उत्पन्न भीमसेनके पुत्र घटोत्कचने रात्रिके समय इतना भयानक युद्ध किया कि सारा कौरवदल एकदम विचलित हो गया। कर्णके पास इन्द्रकी दी हुई शक्ति थी। जो अर्जुनको मारनेके लिये पर्याप्त थी। वह केवल एक ही बार काममें आ सकती थी। कर्णने वह शक्ति अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ी थी, पर उस रात्रिको घटोत्कचने इतना भयानक युद्ध किया कि सारे कौरव वीर बिल्कुल घबरा गये। दुर्योधनने घबराकर कर्णसे कहा कि उस शक्तिको छोड़कर जल्दीसे तुम इस

घटोत्कचको मार दो। कर्णने कहा–भैया ! शक्तिसे घटोत्कचको मार दूँगा तो अर्जुनको कैसे मारूँगा ? दुर्योधन बोला कि यह घटोत्कच आज ही रातमें हम सबको मार डालेगा तो शक्ति फिर क्या काम आयेगी ? यह इतना भयंकर युद्ध कर रहा है कि तुम और हम बचेंगे नहीं। तब हारकर कर्णने घटोत्कचपर शक्ति छोड़ दी। उसके आघातसे वह मर गया। उसके मरते ही सारे पाण्डव–शिविरमें शोक छा गया। युद्ध बन्द हो गया।. पाण्डव अपने शिविरमें गये और सब–के–सब अत्यन्त करुणार्द्रभावसे रोने लगे। वे कहने लगे कि 'इतना बड़ा महावीर, हमारा पुत्र जो सारे कौरवों को त्रस्त करनेवाला था, मर गया। भगवान् श्रीकृष्ण एक ओर बैठे हँस रहे थे। पाण्डवोंको यह बात बुरी लगी कि हम तो दुःखी हैं और हमारे घरके, हमारे अपने श्रीकृष्णके मुहँपर मुस्कराहट कैसे ? 'अर्जुनने जाकर पूछा– 'भगवान् ! यह विपरीत आचरण कैसे ? अपने घरमें इतनी बड़ी हानि हो गयी, घटोत्कच मर गया, ऐसे समय सहानुभूतिके लिये भी हँसी नहीं आया करती। आपके चेहरेपर पर हँसी ?' तब भगवान्‌ने बताया– 'इस हँसीमें दो कारण हैं। घटोत्कच अपना पुत्र होनेपर भी राक्षस था, उसे कर्ण नहीं मारता तो आगे चलकर मैं उसे मारता। वह राक्षसी स्वभावका प्राणी था, जो दुनियाको दुःख देने के लिये था। एक तो इस बातका हर्ष है और दूसरा कारण यह है कि मेरा मन आज इस बातसे बड़ा प्रसन्न है कि मेरा अर्जुन बच गया। यदि वह शक्ति कर्णके पास बची रहती तो वह अर्जुनपर ही छूटती और मेरा प्रिय अर्जुन मर जाता।' भगवान्‌ने उस समय यहाँतक कहा कि मुझे रातमें नींद नहीं आती थी तथा दिनमें रोटी नहीं भाती थी, केवल इसलिये कि कर्णके पास शक्ति है। जब–जब मैं कर्णके सामने रथ ले जाता, तब–तब मैं कर्णको सम्मोहन–विद्यासे सम्मोहित कर देता, जिससे कर्ण उस शक्तिको भूला रहे। आज वह शक्ति घटोत्कचपर छूट गयी और मेरा अर्जुन बच गया। भगवान्‌ने यह अपने प्रेमकी बात कही।

भगवान्‌के इस हृदयको देखकर उनकी कृपा पानेका हम लोगोंके लिये बड़ा सुन्दर ढंग यह है कि अपने सारे पापोंको खोलकर अन्तर्यामीके सामने रख दें। एक बार जो भगवान्‌के चरणोंमें अपने–आपको समर्पण कर देता है, भगवान् उसके अपने बन जाते हैं और उसे अपना बना लेते हैं।

समर्पणका आदर्श

समर्पण है तो बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज पर है जरा कठिन। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई है अपना अलगपन रखना। सब कुछ कहकर भी हम अपना अलग अस्तित्व रख लेते हैं। यह भगवान्‌को सुहाता नहीं। भगवान्‌की हम महिमा कहते हैं, सुनते है पर सोचिये हम भगवान्‌की महिमा क्या कह सकते हैं ? वे अपने आपमें ही स्थित हैं। हमारी तो महिमा करना भी उनकी निन्दा ही होती है। पर वे उस निन्दासे भी नाराज नहीं होते, बालककी बात समझकर हँसते हैं। और हमें भी करनी ही चाहिये।

पूर्ण समर्पणसे पहले तीन चींजे और होती है। आज्ञापालन, संकेतके अनुसार चलना और रुचिके अनुसार करना। पहले तो आज्ञापालन भी नहीं होती। फिर आज्ञा पालनमें तीन बातें हैं– संकोचसे, लाभ दृष्टिसे, कर्तव्य समझकर। संकोचसे पालन करनेमें एक मजबूरी होती है, तबतक तो समर्पण कुछ हुआ ही नहीं। फिर लाभकी दृष्टिसे की जाती है उसके बाद फिर कर्तव्य समझकर। इससे जब आगे बढ़ते है तो स्पष्ट आज्ञाकी जरूरत नहीं संकेतके अनुसार चलने लगते हैं। इसमें संकोच–मजबूरीका प्रश्न ही नहीं है। उसके बाद उनकी रुचि मालूम होने लगती है और सब कुछ उसके अनुरुप होने लगता है। इन सबके फलस्वरूप फिर स्वभाव ही वैसा बन जाता है। फिर भगवान्‌के मनकी बात स्वतः पता लगने लगती है। इससे पहलेतक जीवन भगवान्‌के अनुकूल तो बन जाता है पर भगवान्‌का नहीं बनता। उसके बाद तो भगवान्‌का मन ही उसका मन बन जाता है। यही है राधा भाव जिस कोई भी प्राप्त कर सकता है।

यह सब आज ही जीवनमें आ जाय यह असम्भव तो नहीं कहा जा सकता पर आज जैसा मन है उसे देखते कठिन अवश्य है। पर इसे आदर्श रखकर एक कदम भी हम उधर बढ़ सके तब भी बड़ा अच्छा है। आदर्श तो हमें यही रखना चाहिये। जबतक असली नहीं हो तबतक उसकी नकल ही करें। धीरे–धीरे नकलको भी वे असली बना देंगे।

भगवान् सब कुछ करने तैयार हैं पर वे बहाना लेते हैं कि कम–से–कम यह चाह तो इसकी रखें। फिर चाह होनेपर तो वे सब कुछ अपने आप ही कर देंगे।

कोई गुप्त बात सुननेको मिल जाय यह भी एक कौतूहल ही होता है। मैं ऐसे व्यक्तियोंको जानता हूँ जिन्हें गुप्त बातें सुननेको मिली पर उसका पूरा लाभ नहीं ले सके। पहलेसे भाव घटा भले ही। तो वह गुप्त बात भी उपन्यासकी तरह पढ़ने और कहनेकी हो जाती है। बहुत विशेष लाभ नहीं होता ।

हम तो केवल माँग करते रहते हैं – हमने इतना दिया, हमने इतना प्रेम किया। अरे हमारे पास देनेको है क्या ? अधिक–से–अधिक हम अपना शरीर देते हैं। अरे ! इस महा गंदी वस्तु जिसमें प्राण न रहने पर एक दिन भी घरमें नहीं रखते उसे दे भी दिया तो क्या हुआ ? और किया तो मन दे दिया। जिस मनमें हजारों–हजारों कुप्रवृत्तियाँ भरी पड़ी है। उसे दे दिया तो कौन–सा बड़ा काम कर दिया। वे तो केवल और केवल अपनी सहज कृपासे किसीको अपना लेते हैं और फिर उसके साथ जो क्रीडा होती है वह तार्किकोंके समझमें नहीं आती और प्रेमियोंको रसास्वादन करानेवाली होती है।

व्रज–भावकी उपासना सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

प्रश्न–तीव्र उत्कंठा कैसे हो ?

उत्तर–यह किसी शुभ कर्मका फल नहीं है। यह तो केवल श्रीभगवान्‌की कृपाका फल है। और श्री भगवान्‌की अपार कृपा हर समय निरन्तर वर्ष रही है। उस कृपाके प्रभाव को जानकर यह जीवन जितना अधिक उस कृपाका अनुभव करेगा उतनी ही उत्कंठा श्रीभगवान्‌से मिलनेके लिये तीव्र होगी। असली उपाय तो श्रीभगवान्‌की महिमा जानकर उनकी कृपाका यथार्थ अनुभव करना ही है, आनुसंगिक उपाय अनेक हैं।

प्रश्न–संसारके कार्य भी बाधा देते होंगे ?

उत्तर–प्रत्येक कार्य भगवत्सेवाकी भावनासे करो। काममें ध्यान न

देनेवाली बात ठीक नहीं है। भजनको सीमित मत रक्खो। आसक्ति हटेगी भगवत्सेवाकी भावनासे करनेसे, उपेक्षासे या काम छोड़नेसे आसक्ति नहीं हटेगी।

प्रश्न–ममता कैसे हटे ?

उत्तर–ममता हटानी नहीं है। भगवान्में जोड़ देनी है। ममत्वकी वस्तुको बदल दो। भगवान् मेरे और मै केवल तेरा। तेरी वस्तुको तूँ सँम्भाल। अपना दैन्य और भगवान्की कृपा दोनों ही अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न–हमें तो अपनी चाल बहुत धीमी मालूम देती है।

उत्तर–अपनी चाल तो धीमी ही मालूम देनी चाहिये। इससे सन्तोष कभी होना ही नहीं चाहिये। इसमें तो असन्तोषही आगे बढ़ाने वाला है। चाल धीमी मानने के लिये नहीं–दिखाई ही देनी चाहिये कि चाल बहुत धीमी है।

प्रश्न–हमतो हाथ पैर हिला सकते हैं, काम तो उनकी कृपा से ही होगा ।

उत्तर–बस जितना हाथ पैर हिला सकते हो उतना हिलाते रहो। फिर सब कुछ जिसे करना है, वह स्वयं करेगा। अपनी चेष्टामें कमी नहीं रहनी चाहिये। अपना काम इच्छा बढ़ाना है, उसकी पूर्ति तो फिर वे अपने आप करेगें।

प्रश्न–कृपा इच्छा बढ़ानेमें सहायता करती होगी ?

उत्तर–जरूर। कृपातो सब कामोंमें सहायता करती है। पर उसे मानने की जरूरत है। जितना मानोगे उतनी ही सहायता करेगी।

प्रश्न–मानसिक सेवा चिन्तन जैसा लगता है, प्रत्यक्ष की भावना नहीं होती।

उत्तर–मानसिक चिन्तन हीं ध्यान है और ध्यान ही प्रत्यक्ष है। जैसे हम गायका मानसिक चिन्तन करें तो गाय तो यहाँ है नहीं इसलिये चिन्तन ही होगा पर भगवान्के बारेमें यह बात नहीं है। भगवान् तो यहाँ उपस्थित हैं ही इसलिये भगवान्का मानस चिन्तन होनेपर उसे प्रत्यक्ष माननेपर वह प्रत्यक्ष ही है। मनमें निराश नहीं होना चाहिये। निराश नहीं होनेसे चाल अपने आप तेज होगी।

प्रश्न–उत्कंठा कैसे बनी रहे ?

उत्तर– उत्कंठा तो रहनी ही चाहिये। न रहे तो ठीक नहीं है।

मिलनमें भी अतृप्ति बनी रहती है। देखो प्रेमास्पद प्रेमीके हर समय पासमें रहता है। वह वह प्रेमीके लिये बहुत आतुर रहता है। पर जनाता नहीं है। जैसे प्रेमी अपने प्रेमको छिपाये हुए रखता है वैसे ही प्रेमास्पद अपने प्रेमको छिपाये हुए उसके पास रहते हैं। प्रेमीके लिये नहीं, स्वयं रस लेनेके लिये। तुम जिस जगह उन्हें नहीं रखना चाहते वहाँ भी वे पास रहते हैं। प्रेमीसे प्रेमास्पदका मन अधिक रहता है। प्रेमीतो पास रहनेमें असमर्थ है परन्तु प्रेमास्पद असमर्थ नहीं है। वे नित्य निरन्तर पास रहते हैं। उसको बीच-बीचमें प्रत्यक्षकी तरह दर्शन देकर और भी अधीर बना देते हैं।

प्रश्न-प्रेममें कैसे डूबे रहे ?

उत्तर-डूबनेपर फिर निकल नहीं सकोगें। फिर तो सब कुछ जला देना पड़ेगा। उसकी होली पर नाचना पड़ेगा। भय, प्रलोभन बहुत-सी चीजें आवेगी। देवता आवेंगे मान, सम्मान देनेके लिये। सबका तिरस्कार करके उसे केवल प्रेमास्पदकी चाह रखनी होगी। घरवाले ठुकरादेंगे, दुनियामें अपमान हो जायेगा, सांसरिक वस्तुएँ छीन ली जायेगी। फिर जिस प्रेमास्पदके लिये यह सब सहा, वह भी छिटका देगा-इसपर भी भाव न डिगे तब वह उसका बंदी बन जायेगा। श्रीकृष्ण गोपियोंको छोड़कर मथुरा चले गये। गोपियोंको लोग कलंकिनी कहते थे।

प्रश्न-समर्पणकी बात सुननेमें अच्छी लगती है, पर पूर्ण समर्पण हो कैसे?

उत्तर-समर्पण की बात सर्वोत्तम है ही पर समर्पण सरल भी है और कठिन भी। सरल तो इसलिये कि इसमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं और कठिन इसलिये कि इसमें सब विश्वासोंको छोड़ना पड़ता है। असली समर्पण विश्वासका ही होता है।

प्रश्न-पूर्ण समर्पणके पहले चौथाई, तिहाई समर्पण भी होता है क्या?

उत्तर-होता है। जैसे उनकी शक्ति पर तो विश्वास कर लिया पर मनमें आ जाती है कि ऐसा हो जाता तो अच्छा रहता। यह अधूरा समर्पण है। समर्पणमें अलग इच्छा नहीं रहती। असली समर्पण किया नहीं जाता,वह तो होता है। अपनी तरफसे पूरी तैयारी रखे, फिर वे अपने आप उसे स्वीकार कर लेते है।

प्रश्न-साधनमें आगे बढ़ेलोगों को गिरते देखकर मनमें कमजोरी आती है।

उत्तर-जो वास्तवमें आगे बढ़े हैं उनके च्युत होनेके तीन कारण हैं। एक तो मनमें कुछ साधनाका अभिमान आ जाता है। दूसरा यह कि साधना में कुछ दिखावापन आ जाता है। भगवान्‌को अभिमान नहीं सुहाता। साधक सच्चाईसे लगा हुआ था तो वह गिरना भी उसके दुबारा उठने की भूमिका ही है। तीसरा कारण

यह भी हो सकता हैकि उसके विश्वास में कमी आ जाय। इसलिये हमेशा अपनेसे ऊँचेवाले को देखे और भगवान्से सुरक्षा के लिये प्रार्थना करता रहे।

ब्रज–भावकी उपासनाके लिये मन्त्र

(१) ऊँ क्लीं कृष्णाय नमं :
(२) ऊँ क्लीं श्रीराधाकृष्णायम्याम् नम :
(३) नमो गोपीजन वल्लभाम्याम्
(४) गोपीजन वल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये
(५) ऊँ प्रेमधनरूपिण्यै प्रेमप्रदानिन्यै श्रीराधायै स्वाहा :
(६) ऊँ गोपीजनवल्लभाय नम :
(७) ऊँ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा :
(८) तासामा विरभूच्छौरी : स्मयमान मुखाम्बुज : ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।।

(श्रीमद्भागवत १०।३२।२)

–इस मन्त्रकी एक माला जप करके 'ऊँ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा :' इस मन्त्रकी कम–से–कम ११ मालाओं का जाप प्रतिदिन शुद्ध होकर करे। ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है।

(९) ऊँ ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा :
(१०) ऊँ ह्रीं श्रीराधाकायै नमः

भगवान्‌की गोद सबके लिये खाली है

एक बड़ा सुन्दर दोहा है–

मोह बड़ा दुख–रूप है ताको मार निकार।
प्रीति जगत्‌की छोड़ दे तब होवे निस्तार।।

अभिप्राय यह कि मानवके जीवनमें दुःखका रूप तथा दुःखका मूल एवं दुःख पैदा करनेवाला मोह ही है, अतः इस मोहका विनाश कर देना चाहिये। इसे जीवनसे निकाल देना चाहिये। यह मोह ही आसक्तिका मूल कारण है । जो वस्तु जैसी है नहीं, उसमें वैसा देखना ही मोह है। मोहसे बुद्धि विपरीत हो जाती है और विपरीत बुद्धि विपरीत दर्शन कराती है। मोहको तम कहा गया है। भगवान् कहते हैं–

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।

(गीता१८ ।३२)

हे अर्जुन ! वह तामसी बुद्धि है जो अधर्मको धर्म बतलाती है। सारे कार्योंको, सारी चीजोंको जो उल्टा दिखाती है, वह तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि है। इसीका नाम मोह है। सच्चिदानन्दघन परमात्माको छोड़कर जगत्‌में कहींपर सुखकी सत्ता नहीं है। परमात्माको छोड़कर जगत्‌के पदार्थोंसे सुख–सत्ताकी कल्पना करना ही मोह है। भगवान्‌में ही परम सुख तथा परम आनन्द एवं परम शान्ति है । इस बातको भूलकर जहाँ केवल ईर्ष्या–द्वेष आदिकी आग धधक रही है, जहाँ निरन्तर अशान्ति और दुःख है, वहाँ सुखकी कल्पना करना मोह है। भगवत्–चरणारविन्दमें अनुराग तबतक नहीं होता, जबतक यह मोह रहता है। इसलिये मोहका नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। मोहके नाशके लिये जीवनकी गतिको भगवान्‌की ओर मोड़ देनेका प्रयास करना है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। भगवान्‌की ओर जीवनकी गति होनेपर ही मोहका नाश होता है। वास्तविक मोहका नाश होनेपर ही भगवान्‌की ओर गति होती है। दोनों एक–दूसरेके सहायक हैं। दोनोंमे कोई एक कम नहीं। किसी–किसीके पहले मोहका

नाश आरम्भ होता है, फिर भगवान्‌की ओर गति होती है। किसी–किसीके भगवान्‌की ओर गति होनेपर मोहका नाश होता है, परन्तु इनमें सहज चीज है भगवान्‌की ओर पहले गतिका होना। गीतामें और पातंजलयोग–दर्शनमें भी वैराग्यका क्रम पीछे है तथा अभ्यासका पहले, जैसे '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**'–यह योगदर्शनका सूत्र है। गीताका वचन है–'**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**'।। मनका निग्रह अभ्यास और वैराग्येसे होता है। अभ्यास पहले और वैराग्य पीछे। इसका कारण है – भगवान् ठोस हैं। भगवान्‌में पोल नहीं है। इसलिये इनका एक नाम कूटस्थ है।

सब भगवान्‌से परिपूर्ण है। उपनिषद्‌का वचन है–'**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते** '–भगवान्‌की पूर्णताका वर्णन करते हुए उपनिषदमें कहा गया है कि पूरेमेंसे पूरा निकाल लिया जाय तब भी पूरा ही बचता है। इस प्रकार भगवान् नित्य पूर्ण हैं, ठोस हैं। ठोसमें किसी दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता । कहीं–न–कहीं पोल होनेपर दूसरी वस्तु उसमें समाती है, नहीं तो अन्य वस्तु समाती नहीं। इसलिये भगवत्–दृष्टि होनेपर इस जगत्‌में भी भगवान्‌के सिवा कुछ दिखायी नहीं देता, क्योंकि उनके अतिरिक्त कुछ है नहीं। भगवान्‌मे जगत् समाया नहीं है, हमारी दृष्टिमें जगत् बना है। जैसे किसी जमीनमें पड़े पानी भरे घड़ेको कोई निकालना चाहता हो और वह न निकले तो उसे कैसे निकला जाय ? उसके अन्दर शीशा गलाकर भरना शुरू कर दे। शीशा है घन। जितना–जितना शीशा भरता चला जायगा, उतना–उतना जल निकलता चला जायगा। उतनी–उतनी जगह शीशा रोकता चला जायगा। शीशा ऊपरतक भर गया तो जल अपने–आप निकल जाय। इसलिये यह बड़ा सुन्दर मार्ग है। भगवान्‌की ओर जीवनको लगा दे। जितना–जितना भगवान्‌की ओर जीवन लगेगा, उतना–उतना अपने आप–ही भोगोंसे हटेगा। भोगोंमें दुःख और दोष देखकर इनसे हटनेका मार्ग तो है, वह सुन्दर भी है, पर जरा रूखा है। उसमें चट्टान तोड़ते चले जाओ, रास्ता निकालते जाओ। सम्भव है ऐसी कोई चीज मिल जाय कि जिसमें चट्टान टूट जाय, फिर तो अपने–आप ही आनन्द मिलता रहे। इसके लिये भगवान्‌के कहा है कि तुमको भवसागर पार करना नहीं पड़ेगा, यह तो हम स्वयं ही कर देगें–

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यंसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।

(गीता१२–७)

गीतामें भगवान्‌ने यह कहा कि जो मुझमें चित्त आविष्ट कर चुके हैं, जो मेरी ओर आ जाते हैं, उनको मैं संसार–सागरसे पार कर देता हूँ, उनको होना नहीं पड़ता । इसका अर्थ यह है कि सूखपूर्वक अच्छी प्रकारसे उनको पार लगा देनेवाला मैं ही हूँ। पार कहाँसे लगाना है? तो खुली बात कह दी, स्पष्ट शब्दों में कह दी – **'संसारसागरात्'**।

मान लो, एक आदमी तैरकर गंगा पार होता है। यदि उसे तैरनेकी कला ठीक–ठीक याद है, उसका दम नहीं टूटता, वह रास्तेमें विघ्नोंसे, जल–जन्तुओंसे, भँवरोंसे, जोरके प्रवाहसे बचकर निकल जाता है तो निश्चय पार हो जाता है, इसमें कोई संदेह नही ; पर कठिनता है। और एक आदमी ऐसी नौकामें सवार होकर पार हो जाय, जो तुरंत ले जाय, टकराने–डूबनेका भय भी न हो और साथ–साथ उसे किसी ऐसी वस्तुका संग बना रहे जो निरन्तर मन एवं इन्द्रियोंको भी आनन्द देती रहे तो इसके लिये भगवान्‌ने कहा– **'अहम समुद्धर्ता भवामि।'** बड़ी सुन्दर चीज। संसारसागरके इस पार नौका लेकर भगवान् आ जाते हैं, नहीं तो पार कैसे करेंगे ! शब्दोंमें एक साहित्यिक सौन्दर्य भी होता है। व्यास भगवान्‌के अवतार हैं। व्यास क्रान्तदर्शी हैं, व्यास मुनि हैं और व्यास महाकवि भी हैं। उनका एक काव्य–सौन्दर्य है। वे कहते हैं–**'संसारसागरात् अहम् समुद्धर्ता भवामि।'** संसार–सागर कौन सा ? बोले–**'मृत्युसंसारसागरात्।'** जिस संसारमें मृत्युका नित्य जल उछल रहा है, जो मृत्युसे भरा है, मरण जिसका स्वरूप है – इस प्रकार मृत्युको लेकर उछलता हुआ जो संसार–सागर है, उस संसार–सागरसे पार करनेवाला मैं होता हूँ। पार किया जाता है इस पारसे उस पार। इसका अर्थ यह है कि इस पार वे तैयार हैं अपनी कृपाकी नौका लेकर वे कहते हैं–'आ जॊओ, मेरी नौकामें बैंठ जाओ और पार हो जाओ।' इस नौकामें बैठनेसे क्या होगा ? तीन बात होगी बड़ी सुन्दर, जो और कहीं नहीं होती। सुखमय नौका है, इस नौकासे पार होनेमें कोई कठिनाई नहीं है। अपनेको तो मात्र बैठे रहना है, कुछ करना नहीं है। अनायास पार हो जायँ। दूसरी बात, नौकाके डुबनेका डर ही नहीं। भगवत्कृपा कभी डूबी नहीं और सब डूब जाते हैं।

सारी शक्तियाँ डूब जाती हैं, भगवत्कृपा नहीं डूबती। वह तो सारे विघ्नोंका नाश करनेवाली शक्ति भगवान्‌की है। सारी सम्पत्तियोंको देनेवाली शक्ति भगवान्‌की है। उसका नाम कृपा है, अनुग्रह है। **'मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'** भगवान् कहते है कि मेरी कृपासे सब कठिनाइयोंसे प्राणी तर जाता है। 'दुर्ग' शब्दका अर्थ है किला। बड़ी–बड़ी कठिनाइयोंके जो किले हैं, उन किलोंको फतह कर लेता है, जो भगवान्‌का आश्रय लेता है। पहली बात सुखपूर्वक रहनेकी है, क्योंकी इसमें हाथ–पैर मारना नहीं पड़ता। जलको उछालना नहीं पड़ता। किसी भँवरका भय नहीं किसी ग्राहका भय नहीं। मजेमें सुखपुर्वक बैठे रहो, दूसरी बात नौका डूबेगी नहीं और पार हो जाओगे। तीसरी बात बड़ी सुन्दर है, वह यह कि उस केवटका साथ जो है। निरन्तर उसको देखते चले जाओ। निरन्तर श्यामसुन्दरका सुन्दर मुखमण्डल देखते हुए, उसकी विलक्षण छबिको निहारते हुए, उसके रूप–रसामृतका पान करते हुए, उसके सौन्दर्य–माधुर्य–रससुधाके अमृतका निरन्तर आस्वादन करते हुए मजेमें चले जाओ – यह बड़ा सहज–सुखमय– सुन्दर–सुदृढ़ निश्चित मार्ग है कि मनुष्य भगवान्‌की ओर लगे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुरने बँगलामें एक बड़ा सुन्दर गीत लिखा, जिसका भाव इस प्रकार है – एक पापी आता है पार होनेके लिये नदीके किनारे। जहाँ–जहाँ पर नदियाँ पार करनी होती है। वहाँ–वहाँ पर पार करनेवाले कुछ लोग रहते हैं। कुछ नौकाएँ रहती हैं। एक समय होता है कि इतने बजसे इतने बजेतक नाव जायगी, उसके बाद रात हो गयी तो नाव बंद हो गयी। बड़ी दूरसे एक यात्री आया। बिचारा रास्ते भर दौड़ता हुआ, हाँफता हुआ कि पार उतर जायगा, उसे नौका नहीं मिली। वह कहता है–

केनोवंचित हो बो चरणे।

आमो को तो आशा करी बोसी आची पाबो जीवने ना होय मरणे।

भाव यह है कि मैं इन चरणोंसे वंचित क्यों रहूँगा ? पूछता क्यों रहूँगा मैं वंचित इन चरणोंसे ? मैं तो कितनी आशा लगाकर आया। क्या पातकियोंको तारनेवाली नौकामें इस संतप्त पातकीको तुम नहीं बैठा लोग ? रास्तेकी धूल फाँकता हुआ मैं आया, मेरी आँखे धूलसे भर गयीं। क्या मैं आकर यह देखूँगा कि मेरे लिये नाव बंद हो गयी ? तब इस पर बैठकर पापी लोग दीन होकर क्यो पुकारते हैं कि नाथ ! हमें पार करो। तुम्हें पार

करना पड़ेगा। भगवान् निरन्तर पार उतारनेके लिये तैयार हैं। नौका लिये तैयार हैं। उनकी सुखमयी नौका—ऐसी बढ़िया नौका जिसके कभी डूबनेका डर नहीं। जिसमें सुख—ही—सुख भरा है। रास्तेभर मौजसे खाते चले जाओ। और पहुँचेगी कब ? उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—**'नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।'** अर्जुन ! देर नहीं होगी, जब मैं पार करनेको तैयार हो जाऊँगा, तैयार हूँ ही। मैं पार करूगाँ तब चिरकाल नहीं लगेगा। विघ्न तो है ही नहीं । दुःख तो है ही नहीं। सुखपूर्वक तुरंत पार हो जाओगे। इसलिये बड़ा सुन्दर भाव यह है कि भगवत्—चरणाविन्दमें अनुराग करनेकी इच्छा करे और अनुराग करना शुरू कर दे। भगवान्‌में जो राग है, इसीका नाम प्रेम है। ईश्वरमें जो परम अनुराग है, उसका नाम भक्ति है। शुद्धानुरागका स्वरूप हम बहुत कम जानते हैं। राग—अनुराग, विशुद्धनुराग—इनमें अन्तर होता है। इस प्रकार वैष्णव—शास्त्रोंमें प्रेमके आठ स्तर बताये गये हैं, उनमें छठा स्तर जो है, वह अनुराग है। इसके बाद भाव हैं, फिर महाभाव जो श्रीराधाका रूप है। महाभावरूपा श्रीराधिका हैं। अनुरागका अर्थ यह है कि किसी अन्यका महत्त्व—किसी अन्यकी सत्तातक न रहे। सारा प्रेम सब जगहसे निकलकर प्रेमास्पदके लिये ही प्रेमास्पदके चरणोंमें समर्पित हो जाय। यही अनुरागकी ऊँची अवस्था है।

प्रेमके आठ स्तर माने गये हैं—प्रीति, स्नेह, मान, प्रणय, राग,अनुराग, भाव और महाभाव। फिर महाभावके अनेक भेद हैं, जिनमें मोहन और मादन दो भेद बड़े ही सुन्दर हैं। दोष—दृष्टिवालोंके लिये तो ये बातें सुनने—कहनेकी भी नहीं हैं। जिनके हृदयमें पवित्र भाव है, वे इनको कह—सुन सकते हैं। हाँ, मैं यह कह रहा था कि भगवान्‌की ओर यदि अपने चलना आरम्भ कर दें और भगवान्‌की ओर हमारे जीवनकी गति हो जाय तो मोहका नाश अपने—आप होगा। कोई कहे कि मोह रहते गति होगी कैसे ? तो हाँ यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। संसारमें दो तरहके साधक होते हैं और दो ही तरहके पातकी भी होते हैं। एक वे होते हैं, जिन्हें 'मोह तो है 'इस प्रकार उनको मोहका पता होता है। बीमार है पर बीमारीको वे आरोग्यता मानते हैं। दो तरहके बीमार होते हैं। मधुमेहीको भूख ज्यादा लगती है। कोई मधुमेहको समझे नहीं और समझे कि भूख ज्यादा लगती है यह बड़ा अच्छा निरोगताका लक्षण है और चीनी अधिक खाने लगे तो मर जायगा। रोगको रोग समझनेवाला और रोगको

नीरोगता समझनेवाला – ये दो रोगी जैसे अलग–अलग होते हैं वैसे ही मोहके दो रूप होते हैं। एक मोहग्रस्त जो विवेकसे बिल्कुल शून्य हो गया। जिसके पास भगवान्‌की स्मृतिकी गुंजाइश नहीं है। उसका वर्णन गीता (७।१५)–में है –

'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।'

भगवान्‌ने ऐसे लोगोंको 'अधम'की श्रेणीमें रखा। अधम माने नीच। ऐसे अधम लोग पापी हैं, मूढ़ हैं, आसुर–भावके आश्रित हैं। पाप–कर्ममें गौरव मानते हैं। पाप करके अपनेको चतुर मानते हैं, बुद्धिमान् मानते है। पाप उन्हें बुरा नहीं मालूम होता। वे पापमें महत्त्व–बुद्धि करते हैं। ऐसे दुष्कृती लोगोंके लिये भगवान्‌ने कहा कि वे मुझको भजते ही नहीं। अतएव वे मूढ़ हैं। नराधम हैं, पर कुछ ऐसे भी पापी हैं जो अभ्यासवश,- आसक्तिवश, कौतुहलवश, देखादेखी, आवश्यकतावश पाप कर बैठते हैं। ये सारी कमजोरियाँ हैं। यद्यपि उनके मनमें एक वेदना रहती है कि हाय–हाय हमारा जीवन बुरे मार्गमें जा रहा है, हम गिर रहे हैं।

मोहकी ऐसी प्रबल धारा है कि वह अपने–आपकी रक्षा नहीं कर सकता। जब पाप सामने आता है तो गिर पड़ता है। पाप होनेपर पश्चात्ताप् होता है, मनमें बार–बार आता है कि बहुत बुरा हो गया, अब ऐसा नहीं करेंगे। किंतु फिर वैसा करता है, इसीको मोह कहते हैं। इस मोहमें पड़े हुए आदमीका अन्तःकरण किसी दिन कराह उठता है। हम सबके जीवनमें ऐसे क्षण बहुधा आया करते हैं, जब अपने पाप अपनेको दीखने लगते हैं। ऐसा क्षण बड़ा शुभ होता है। जीवनमें जब मनुष्यको अपने पाप दीखते हैं तो वह घड़ी बड़ी शुभ होती है, जब अपने पापोंपर पश्चात्ताप् होता हो, हृदय जलता हो तो ऐसी स्थिति होती है मोहगस्त पाप करनेवाले बिरले किसी सचेष्ट मनुष्यकी । देखा जाता है कि पापीकी कोई प्रत्यक्षमें सहायता नहीं करता। भले ही अपनेको बचाकर सहायता करे। चोरीका माल गुप–चुप रख ले ; पर चोरी करनेमें शामिल नहीं होता, डरता है। कहता है – हे भाई, लोग हमपर वहम कर लेंगे इसलिये पास न बैठा करो, अलग बैठा करो।

बेटा भी यदि बुरा कर्म कर बैठे और वह कुख्यात हो जाय तो

बाप कह देगा कि हम तो पहले ही जानते थे कि नालायक है। यह हमारे कुलको डुबोयेगा। हमारा इससे क्या वास्ता है। बेटा हो गया तो भाग्यसे हो गया। इससे हमारा क्या लेना-देना है। यह तो कुलांगार है। कोई भी आदमी बुरेमें साथ नहीं देना चाहता, पर एक भगवान् ही ऐसे हैं जो पापीसे भी कहते हैं, आ जाओ। मेरी गोद तैयार है। मेरे द्वार बंद नहीं। तुम महान्-से महान् पाप करते हो ; पर यदि मेरी गोदमें आना चाहते हो तो तुम आ जाओ, तुम्हारे पापोंको मैं धो दूँगा। तुम मेरी शरणमें आ जाओ, तेरे लिये मेरी गोद खाली है। मलमें भरे हुए बच्चेको कभी माँ कहती है क्या कि नहा करके आओ तब गोदमें लूँगी। मलमें भरे बच्चेकी आवाज सुनते ही माँ दौड़ती है, अपने हाथों मल साफ करती है। जब माँ ऐसा कहती और करती है तब अनन्त माताओंका अनन्त स्नेह-सागर जिन भगवान्‌के अन्तःकरणमें लहरा रहा है, वे भगवान् क्या जीवकी दुर्गति देख सकते हैं ? उनकी ओर मुँह होना चाहिये। पापी आदमीको जब अपना पाप खलता है तो वह भगवान्‌की ओर जाता है और भगवान्‌की ओर जाते ही जानते हो क्या होता है ? एक बड़ी विचित्र बात है। अँधेरे कमरेमेंसे निकलनेका उसने उपक्रम किया, किवाड़ खोला कि प्रकाश आया। प्रकाश अंदर घुसना चाहता है यह नियम है। अँधेरेमें घुस करके प्रकाश अंधकारको मार देगा-अपना विस्तार कर देगा। इसी तरह भगवान्‌की ओर यदि हमने जरा-सी अपने जीवनकी गति की तो भगवान् अंदर आने लगेंगे। उनका प्रकाश आने लगेगा। प्रकाश आया कि अँधेरा हटा। भगवान्‌की ओर लगनेपर मोहका नाश अपने-आप हो जायगा, करना नहीं पड़ेगा। भगवान् अपने-आप मोह-नदीसे पार कर देंगे। इसलिये यह बड़े आश्वासनकी बात है। तो बड़ी सीधी बात है। तुम भगवान्‌के आगे रो पड़ो। रोना नकली नहीं होना चाहिये। अन्तरकी वेदना होनी चाहिये जरूर भगवान् ऐसे वैद्य नहीं कि जिनकी दवा काम न करे और जो रोगका निदान न कर सकें। उनकी दवा अमोघ है। भगवान्‌की कृपाको अमोघ कहा गया है। भगवान्‌की जितनी शक्तियाँ हैं उन सारी शक्तियोंमें कृपाशक्ति सर्वोपरि है। कृपाशक्तिने जहाँ काम शूरू किया वहाँ सारी शक्तियाँ उसके अनुगत होकर सेवा करने लगती हैं-

जा पर कृपा राम के होई। ता पर कृपा करे सब कोई।।

भगवान्‌की कृपाशक्ति इतनी विलक्षण है कि भगवान् जिसको

रोषमें भरकर मार देते हैं, कृपाशक्ति कहती है कि इसको मैं अभी आपके धाम पहुँचाऊँगी। भगवान् मारते हैं, कृपा तारती है। भगवान्‌की कृपा–शक्ति यह नहीं देखती कि यह कौन है, कैसा है, इसके पहलेका इतिहास क्या है ? कृपाशक्ति तो केवल देखती है कि अब क्या चाहता है। यदि इसकी पुकार, इसका रोना, इसका आर्तभाव सच्चा है तो कृपाशक्ति उमड़ पड़ती है उसको अपने–आप आत्मसात् करनेके लिये। कृपाशक्तिने जरा–सा जहाँ काम किया, बस सारे विघ्न अपने–आप हट जाते हैं। नये–नये विघ्न हम पैदा कर देते हैं विघ्न हटानेके नामपर । पर यहाँ दीन होकर भगवान्‌के चरणोंमें गिर जायँ। वे दीनबन्धु, पतित–पावन इस प्रकारके स्नेहमय, दयामय, करुणामय, प्रीतिमय, सौहार्द्रमय हैं कि हमें गले लगा लेंगे। जिनका कोई नहीं उनके वे होते हैं–'**जार केओ नाय तुमि आछो तार।**' रवींद्रने कहा जिसके कोई नहीं उसके तुम हो। वे कभी इनकार करते नहीं किसीके लिये भी कि यह कौन है ? किस देशका है? किस वेषका है ? मुसलमान है कि हिन्दू ? ब्राह्मण है कि कसाई ? बड़ा सदाचारी है कि व्यभिचारी ? पुरुष है कि स्त्री ? चांडाल है कि शुद्र ? बच्चा है कि बूढ़ा–कुछ नहीं, वे तो केवल देखते हैं उसकी करुणा पुकार। उसकी पुकारमें कैसी करुणा है, कितना दैन्य है और वह सत्य है या नहीं। भगवान्‌की ओर करुण हो करके, दीन हो करके जिसने पुकारा भगवान्‌ने उसे अपना लिया। भगवान् अन्याय नहीं करते। दया उनका न्याय है, उद्धार उनका न्याय है, अपनाना उनका न्याय है, स्वभाव है न, वे छोड़े कहाँसे ? सूर्यके सामने अगर कोई खून करके जाय तो सूर्य यह कह देगा कि हम तुम्हें प्रकाश नहीं देंगे ? हम तुम्हें गर्मी नहीं देंगे ? खून करनेवाला जाय या सदाचारी जाय, सूर्यका प्रकाश सबके लिये समान है। यह भगवान्‌का स्वभाव है। प्रभु–मूरति कृपामयी है। तुलसीदासजी कहते हैं–'**है तुलसी परतीत एक, प्रभु मूरति कृपामयी है।**' हमको तो यह एक विश्वास है कि भगवान् बने ही हुए हैं कृपासे। अपनी कृपाको छोड़ दें तो वे न रहें। कृपा ही उनके शरीरके अवयवोंके सारे धातु हैं। भगवान्‌की कृपा सबके लिये खुले हाथों अपनेको बाँट रही है कि हमको ले लो। जरा भी निराशाकी बात नहीं है। हमें उस ओर लगना है। सारा काम वे कर देंगे। अपने जीवनकी गतिको उस ओर मोड़ लेना है। मोहका नाश फिर भगवान् कर देंगे। जब वे करते हैं देर नहीं लगती। प्रकाशके लिये हम

बत्ती लायें। तेल लायें, लालटेन हो, दियासलाईसे उसको जलाएँ, कही हवा आ गयी तो बुझ गया। तेल नहीं मिला तो चिराग जल नहीं सकता। कहीं उसके गोला नहीं हुआ तो हवा बुझा देगी। कहीं बत्ती ही जल गयी तो रोशनी बंद हो जायेगी। पर यह ऐसी रोशनी है जिसमें तेल–बातीकी आवश्यकता नहीं। जो स्वमहिमामें स्थित है, स्वप्रकाश है, स्वस्वरूपमय है–ऐसे भगवान् जो हैं, उनकी कृपा क्या नहीं कर सकती ? सारे मोह–तमका नाश यह कृपा कर देगी। अंदरकी सारी बुराईयोंको निकाल देगी, अपने योग्य बना लेगी। भगवान्‌के शरण होनेपर, भगवान्‌की ओर जीवनको मोड़ देनेपर भगवान् क्या करते हैं ? उसको अपने योग्य बना लेते हैं। एक तो योग्यता प्राप्त करता है, एक योग्यता मिल जाती है। आरुणि विद्वान् नहीं था, विद्यामें उसकी रुचि नहीं थी ; पर सारी विद्याओंमें निष्णात हो गया अकस्मात् गुरु–कृपासे। वह जानता था केवल गुरु–सेवा। जानता था केवल गुरुके वचनोंका अनुगमन। गुरुजीने कहा–जाओ खेत सँभालो। खेतमें गया। पानी रोकना है, पर उपाय कोई दूसरा दीखा नहीं तो स्वयं मेड़ बनकर गिर गया। रातभर पानीमें रहा। प्रातःकाल गुरुजी खोजने गये, पुकारा, कहाँ हो बेटा आरुणि ! पड़ा–पड़ा ही बोला–'यहाँ हूँ'क्या कर रहे हों ? '–'पानी रोक रहा हूँ।' 'कैसे रोक रहे हो।' 'मैं पड़ा हूँ।' गुरुजी आरुणिको इस प्रकार देखकर स्तम्भित और वात्सल्यसे द्रवित हो गये। फिर उन्होंने गदगद्‌कण्ठसे कहा–'बेटा, मेरा आर्शीवाद है सारी विद्या तुझे अभी प्राप्त हो जाय।' आरुणि हो गया विद्वान्। उसी समय गुरुकी कृपासे सारा ज्ञान प्राप्त हो गया उसे। ध्रुव छोटा–सा बच्चा, बोलना नहीं आता उसे। किस प्रकार बात करे और भगवान् सामने खड़े। मनमें आया कि कुछ कहें भगवान्‌से, पर कहे क्या ? न उसके पास शब्द है, न भाषा है, न विवेक है ; फिर क्या कहे ? भागवतमें आता है कि भगवान्‌ने अपना शंख जरा–सा उसके कण्ठसे स्पर्श करा दिया। बस सारा ज्ञान उसकी वाणीपर आ गया। भगवान् जब करना चाहें तो मोहका नाश होनेमें क्या देर लगती है ? पापका नाश होनेमें कौन देर लगती है जब भगवान् करनेको तैयार हैं। फिर देर क्यों हो रही? देर इसलिये हो रही है कि यह देर हमें सहन हो रही है। हमारे विश्वासमें और हमारी चाहमें कमी है। हमारी चाह हो और हमें भगवान्‌के सौहार्द्रपर विश्वास हो तो भगवान्‌की ओर मुड़ जायँगे। और भगवान्‌की ओर जीवनकी

गति होते ही प्रकाश मिलेगा। यह बातोंसे नहीं होता। बात चाहे हम न करें, बात चाहे हम बहुत करें, भगवान् देखते हैं अंदरकी चीज – वर्तमानकी, पहलेकी नहीं देखते। इस समय सच्चाईके साथ हम क्या चाहते हैं–यह भगवान् देखते हैं और उसे ठीक–ठीक भगवान् जान पाते हैं ; क्योंकि भगवान् रहे अन्तर्यामी–सूक्ष्मदर्शी। हम अपने–आपसे अपने–आप धोखा खा सकते हैं, पर भगवान् धोखा नहीं खा सकते । पहलेकी चीज तो नहीं देखते, पर भगवान् देखते हैं कि इसकी चाहमें, इसकी प्रपत्तिमें, मेरी ओर मुड़नेकी इच्छामें क्या सच्चाई है। बस वह चाह होनी चाहिये, फिर अपने–आप भगवान् सारा काम कर लेंगे। कोई काम हमें नहीं करना है, हमें तो एक ही काम करना है, वह यह कि उनका सतत स्मरण बना रहे।

'तदर्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।' सब समर्पण कर दिया। हमारे पास बचा एक भगवान्‌का स्मरण। स्मरण कहीं क्षणभर नहीं होता तो वह व्याकुल हो जाता है कि जीवन खो गया। और न कुछ करना है, न पाना है, न देना है, न लेना है। भगवान् कहते हैं–तुम निश्चिन्त रहो।**'मा शुचः।'** गीताका वचन कोई ले तो बड़ा सुन्दर भगवान्‌के उपदेशका अन्तिम वाक्य है। मत सोच करो, मत चिन्ता करो। कैसे न करें? हम पापी हैं। पहले कह दिया कि पापोंसे मै बचा दूँगा । क्यों बचा दोगे। पहले कह दिया कि **'मामेकं शरणं व्रज'**। एक मेरी शरणमें आ जाओ। सारा पाप, सारा ताप, सारी जलन, सारा मोह सदाके लिये मिट जायगा। अर्जुनने यही कहा। अर्जुनसे फिर पूछा–भई क्या हुआ ? अर्जुनने सबसे पहले यही बात कही–**'नष्टो मोहः।'** मेरे मोहका नाश हो गया। बस मोहका नाश हुआ कि सारा काम बना। मोहका नाश होनेके बाद जीवन बन जाता है भगवान्‌के अनुगत और मोहका नाश न होनेतक होता है भोगके अनुगत। यह बड़ा अंतर है भोगपरायण जीवन और भगवत्परायण जीवनमें। भोगपरायण जीवनमें हमारी सारी चेष्टा भोग–प्रेरित होती है, भोगके लिये होती है, जबकि भगवत्परायण जीवनमें सारी चेष्टा भगवान्‌की प्रेरणासे होती है और भगवत्प्रीत्यर्थ होती है। यह बड़ा भारी अन्तर है।

हमारी संस्कृतिमें यह बात आयी है कि **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** (गीता८।११)। 'विद्यार्थी ब्रह्मचर्य–आश्रममें प्रविष्ट क्यों न हुआ? उस परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे।' विद्या होनी चाहिये जगत्‌में

अर्थकी प्राप्तिके लिये। क्योंकि आवश्यकता है, परन्तु वह अर्थ हो मोक्षके सम्मुख जानेवाला। यदि ऐसा है तब तो अर्थ, नही तो अनर्थ । आजके युगमें हम प्रत्येक चीज आर्थिक दृष्टिकोणसे देखते हैं। जैसे हमारा आश्रम है, हमारा विद्यालय है, हमारी संस्था है – हमको इससे क्या आय होगी, क्या मिलेगा इससे, यह देखते हैं। 'यदिच्छन्तः' नहीं, भगवान्‌की प्राप्तिके लिये नहीं। हमको आर्थिक लाभ क्या होगा। हम यह देखते हैं। इसलिये जहाँ आर्थिक लाभ नहीं हो, वह धर्म भी आज हमारे लिये उपेक्ष्य बन गया है। वास्तवमें लाभकी जगह थी हमारे यहाँ परमार्थ। सारे संस्कार हमारे परमार्थको लेकर होते थे। जीवनका प्रारम्भ भी परमार्थमें और जीवनका अन्त भी परमार्थमें। इससे भगवान्‌की ओर मुड़ा हुआ जीवन भगवान्‌में लग जाता है। जहाँ हमारे जीवनका ध्येय भगवान् हो जाते हैं अर्थात् भगवान् हमारे जीवनके सामने हो जाते हैं और हमारा जीवन भगवत्परायण हो जाता है। वहाँ प्रत्येक चेष्टा भगवत्प्रेरित होती है और प्रत्येक चेष्टाका फल वह चाहता है भगवत्प्रीति। ठीक इससे उल्टा भोगमें होता है। मन्दिरमें जाकर भी वह भगवान्‌से कहेगा महाराज धन मिल जाय, पुत्र मिल जाय, अधिकार मिल जाय, यश मिल जाय। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते है–

तुलसी हरिनाम सुधा तजि शठ हठि पियत विषय विष माँगि ।।

मूर्ख माँग–माँग कर जहर पीता है। भगवान्‌ने कहा हम नही देंगे तुमको जहर, तुम हमारे प्यारे हो ! वह कहता है नहीं महाराज, मीठा है दे दो ! भोगपरायण व्यक्तिकी सारी चेष्टा भोगप्रेरित होगी। भोगपरायण जीवन और भागवत–जीवनमें यह बड़ा अन्तर है। जब भोगमें वितृष्णा होने लगे, भोग बुरे लगने लगें भोगसे चित्त हटने लगे, इनमें ऊबने लगे, दूसरेके भोग देखकर चित्त ललचाये नहीं, तब समझना चाहिये कि जीवन भगवान्‌की ओर मुड़ रहा है।

एक बारकी बात है, मैं कुम्भमें गया था। हमारे पास एक मित्र साधु थे, बड़े अच्छे आदमी, नाम हम नहीं बतायेंगे। बड़े सात्त्विक आदमी और बड़े सरल हृदयके साधु। एक दिन हमसे बोले भाईजी कुछ गड़बड़ मालूम होती है। भगवान्‌की कृपा शायद कम है। हमने कहा क्यों ? तो बोले देखिये न ! उनके कैम्पमें तो बड़े–बड़े मिनिस्टर और बड़े–बड़े धनी लोग आते हैं तथा बड़ा चाढ़वा होता है, बहुत ज्यादा यज्ञ हो रहे हैं, और

हमारे यहाँ लोग आते ही नहीं। उन्होंने यह दुर्भावसे नहीं कहा, परंतु एक मनोवृत्तिका पता लगता है कि दूसरेके भोगको देखकर जी ललचाता है। अपने पास भोग न होनेपर हम भगवान्‌की अकृपा मानते हैं और अपनेको अभागा। यह प्रत्यक्ष भोगाश्रय है। दूसरेके पासकी वस्तुको देखकर उसपर भगवान्‌की कृपा मानना तथा हमारे पास नहीं है यह देखकर अपनेपर भगवान्‌की अकृपा मानता, यह प्रत्यक्ष सिद्ध करता है कि उस वस्तुमें जिसके मिलनेपर अपनेको भग्यवान् मानता है तथा जिसके न मिलनेपर अभागा मानता है– उस वस्तुमें उसकी मुख्य बुद्धि है, उस वस्तुको ही वह परमा श्रेय, साध्य मानता है। और उसी मुख्य बुद्धिसे भगवान्‌से प्रार्थना करता है कि भगवान् हमारा यह काम कर दें। इसी बुद्धि से वह भगवन्नाम लेनेपर कहता है कि भगवान् ! हमने आज लाख नाम लिये हैं। लाख नाम हम अर्पण करते हैं, बदलेमें भगवान् हमको ये चीज दे दें।

भोगपरायण मनुष्यकी साधना भी भोगकी सेवामें लगेगी। उसकी उपासना भोगकी सेवामें लगेगी। वह भगवान्‌से भी कहेगा कि हम आपके भक्त हैं, देखिये हम आपका नाम जपते हैं, हमें तो आपका ही आसरा है, अब आपके बिना हम किससे कहें। यह हमारा लड़का मर रहा है, इसे आप बचा लें। ऐसा करना कोई बुरी चीज नहीं है, पाप नहीं है, पर मूर्खता तो है ही ! जो भगवान् अपने–आपको देते हैं, उनसे केवल लड़केको बचानेकी प्रार्थना करना अविवेक तो है ही। लड़का तो आज नहीं कल मरेगा, या पहले हम मर जायँगे। लड़केको तो छोड़ना पड़ेगा ही। भगवान्‌से हमने क्या चाहा ! हमारी जो भोग–बुद्धि है, वह भगवान्‌से भी भोग–सेवाका काम करवाना चाहती है। पाप एवं बुरे कर्म करनेकी अपेक्षा भगवान्‌से माँगनेमें कोई बुराई नहीं, परंतु भगवान्‌की महत्ताका ज्ञान तो नहीं है।

भगवान्‌की ओर मुख मोड़ लेनेपर भोग बुरे मालूम होने लगते हैं। मैं एक बार कलकत्ता गया। मैंने वहाँ उन लोगोंके सामने भी ऐसी ही कुछ बातें कहीं। बहुत बड़े–बड़े धनी लोग मुझसे मिले। जिस–जिससे एकान्तमें बात हुई, सबने कहा कि हम बहुत दुःखी हैं। अब जिनके पास पैसा नहीं है वे मानते हैं कि न जाने इनको कितना सुख होगा। क्योंकि इनके पास सम्पत्ति है, पर उनके दुःखके कारण दूसरे हैं। जबतक भोगपरायणता है तबतक दुःख रहेगा–ही रहेगा। इसलिये भगवान्‌की ओर मुड़ना ही चाहिये।

भगवान्‌की ओर लगनेपर भगवान्‌की कृपासे इस मोहका नाश प्रारम्भ हो जाता है। मैं तो यह कहूँगा कि मिट जाता है तुरंत पर यदि वैसा न हो तो यह मानना चाहिये की कम-से-कम इतना होने लगनेपर भोगोंसे वितृष्णा होने लगती है। भोगोंमें हीन बुद्धि होती है। भोगोंमें सुखकी कल्पना नहीं होती। भोगमें भगवान्‌की कृपाके दर्शन नहीं होते। चित्त भगवान्‌की ओर जानेके लिये उतावला हो उठता है। ऐसी स्थिति जब होने लगे तब समझना चाहिये कि हम मानव-जीवनके ठीक रास्तेपर आ गये। आगे बढ़ना है। भगवान् बढ़ायेंगे-यह सच्ची बात है।

मोह-नाशके दो उपाय हैं-एक तो भोगोंमें, विषयोंमें दुःख इत्यादि देख-देखकर चित्तको हटाना, मोह-नदीको तैरकर पार करना और दूसरा अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें डालकर नौका लिये हुए उनको बुला लेना, बड़े मजेमें उसपर सवार होकर उनको देखते हुए उनसे बातचीत करते हुए, उनसे मिलते हुए, उनके रसका ग्रहण करते हुए सुखपूर्वक निश्चिन्तताके साथ पार हो जाना। मोह-नदी अपने-आप पीछे रह जायगी।

भगवत्कृपा

भगवान्‌ने गीतामें आज्ञा की है-**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'**-सर्वकालमें मेरा स्मरण करो! यह जीवनमें उतारनेकी बात है। हमारा प्रत्येक क्षण भगवान्‌के स्मरणमें बीते । भगवान् कैसे हैं और क्या हैं- इसका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है। जिसके मनमें जैसे भगवान् हैं – चाहे वे निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार, विशेष-निर्विशेष हों ; उनमें भी चाहे भगवान् राम हैं, कृष्ण हैं, नारायण, दुर्गा, शिव कोई रूप, कोई नाम हो ; जिसका मन जहाँ लगे, जिसके लिये जो नाम-रूप रुचिकर हो, उसीका स्मरण करे। स्मरण नामका करे, लीलाका करे, स्वरूपका करे अथवा भगवान्‌के तत्त्वका करे। जिसका मन जहाँ लगता है, उसीका स्मरण करे ; परंतु भगवान्‌के साथ चित्त जुड़ा रहे, यह मुख्य बात है। यही जीवनमें उतारनेकी बात है, जिसका निश्चित फल है भगवान्‌की प्राप्ति। इसमें जरा भी संदेह नहीं

है।'**मामेवैष्यस्यसंशयम्**'–ये भगवान्के प्रतिज्ञावचन हैं कि :'यह मुझको ही प्राप्त होगा, निस्सन्देह।' जीवनमें निरन्तर याद रखनेकी बात यह है कि हमारे जीवनका कोई भी क्षण भगवान्के स्मरणसे रहित न बीते। यह बात तो मैंने कही स्मरणकी ; दूसरी जो उत्तम बात है वह है नामजपकी। जीभके द्वारा भगवान्के नामका जप–यह बहुत सरल, बड़ा सीधा साधन है। इसमें किसी प्रकारसे कोई ऐसी बात नहीं, जो आपत्तिजनक हो। केवल जीभसे अभ्यास डाल लेना है कि भगवान्का जो भी नाम रुचे उसीकी जीभ निरन्तर रटन करती रहे ; जीभके द्वारा भगवान्के नामकी आवृत्ति निरन्तर होती रहे। उससे क्या होगा कि जितने भी पूर्वके मल हैं, संचित पाप हैं, वे नष्ट हो जायँगे। यह बड़ी आवश्यक बात जीवनमें उतारनेकी, करने–करानेकी है। तीसरी बात जो और भी आवश्यक है, वह यह है कि भगवान्के कृपा–बलपर भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें असन्दिग्ध हो जाना ; मानो भगवान्की प्राप्ति मुझे इसी जीवनमे भगवान्की कृपाके बलपर अवश्य–अवश्य होगी–इस प्रकारका मनमें निश्चय कर ले। यह भगवत्प्राप्तिमें बड़ा सहायक है। अपनी असमर्थता, अपनी योग्यता, अपना अनधिकारपन – ये सबके होते हुए भी भगवान्की कृपामें जो बल है वह इतना अपरिमित है, इतना असीम है, इतना प्रभावशाली है कि उसका आश्रय लेनेपर सारे दोष, सारे विघ्न, सारी अड़चने अपने–आप उसके कृपाके प्रभावसे टल जाती हैं–'**मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।**' –यह भगवान्ने स्वयं घोषणा की है कि 'मेरे प्रसादसे, मेरे अनुग्रहसे तुम सारे–के–सारे विघ्नों को लाँघकर आगे बढ़ जाओगे – विघ्नोंपर तुम विजय प्राप्त कर लोगे।' बस, तुम केवल एक काम करो कि मेरी कृपापर अपने–आपको छोड़ दो ; '**मच्चित**' बन जाओ। भगवान्की कृपाका भरोसा जगत्में सबसे बड़ा भरोसा है। इससे बढ़कर कोई शक्ति नहीं, इससे बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं, कुछ नहीं। वस्तुतः विश्वसनीय यही है कि–'**हैं तुलसी परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है**'

तुलसीदासजी कहते हैं–'मेरे मनमें बस, एक यही विश्वास है। अपनेपर मुझे विश्वास नहीं। अपने साधनोंपर मुझे विश्वास नहीं। अपनी मन–इन्द्रियोंपर मुझे विश्वास नहीं। ये सब–के–सब प्रभुसे बिमुख हैं। '**मो मन कबहूँ तुमहि न लागौ। ज्यों छलछाँड़ि स्वभाव निरंतर रहत विषय अनुरागौ ।।**' मन मेरा कभी आपमें लगा ही नहीं, इस तरह आपसे बिमुख

यह निश्चल होकर स्वाभाविक ही विषयोंका प्रेमी हो रहा है। विषयोंके प्रेममें दो बाते है– (१) विशेष मनको लगाना नहीं पड़ता, वह स्वाभाविक लगा हुआ है, (२) निरन्तर लगा हुआ है और निश्चल लगा हुआ है। मनका विषयोंमें लगनेमें कोई दम्भ नहीं है, कपट नहीं, वह छलरहित निरन्तर स्वभावसिद्ध विषयोंमें लगा है। फिर कहा, मेरे मनकी दशा, सारी इन्द्रियोंकी दशा, सकल अंग पदविमुख नाथ ! सारे अंग मेरे हैं पर आपके चरणोंसे विमुख हैं। केवल एक जीभने, एक मुखने नामकी ओट लयी है, परन्तु सबसे बड़ी चीज मेरे पास है,वह यह कि–

'है तुलसी परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है।'

यह मेरा अनन्य विश्वास है, यह मेरा एकान्त विश्वास है, एकनिष्ठ विश्वास है। मेरे प्रभु साकार हैं। ये कृपासे बने हुए हैं। जो कृपासे बने हैं, जो कृपामय हैं वे कृपा करेंगे ही। मैं कैसा भी जीव हूँ, क्यों न हूँ। अब उनकी जिसपर कृपा होगी उसके लिये कौन सी चीज बाकी है? कौन–सी बाधा, कौन–सा विघ्न उसको भटका सकता है ? सारी अड़चनें चूर–चूर हो जाती हैं भगवान्‌की कृपाशक्तिके सामने। भगवान्‌की कृपाके बलपर इसी जीवनमें, इसी जन्ममें भगवत्प्राप्तिके संबंधमें निश्चय कर ले कि भगवान्‌की प्राप्ति होगी ही, होगी ही, हीगी ही। यह जीवनमें उतारनेकी बात है।

चौथी बात जो परसो रातको हुई थी। पहले भी हो चुकी है। वह यह है कि प्रत्येक प्राणीमें, संसारके प्रत्येक जीवमें भगवान् हैं अथवा भगवान् उन जीवोंके रुपमें प्रकट हैं। उनमें भगवान् अथवा वे ही भगवान् दोनों ही बातें ठीक हैं। यह समझ करके, यों निश्चय करके, अपने मनमें और व्यवहारमें स्मृतिका निरन्तर रहना आवश्यक है। इस चीजको जीवनमें उतार ले। इसको फिरसे दोहराता हूँ ; क्योंकि यह बहुत कामकी चीज है। लड़का सामने आये, अपनी पत्नी सामने आये, नौकर सामने आये, भंगीसे काम पड़े, किसीसे काम पड़े बस तत्काल इस बातको याद कर ले कि इस रूपमें उनके सामने पड़ते ही ये मेरे इष्टदेव हैं और मन–ही–मन प्रणाम कर ले और प्रणाम करनेके बाद जो व्यवहार करना हो उस व्यवहारके लिये उससे आज्ञा माँग ले। आपका स्वाँग नौकरका, मेरा स्वाँग मालिकका, आपका स्वाँग पत्नीका, मेरा स्वाँग पतिका ; आपका स्वाँग बेटेका, मेरा स्वाँग बापका। इन स्वाँगोंके अनुसार आपकी आज्ञा

माननेके' लिये मैं व्यवहार करूँ । परन्तु नाथ ! मुझे यह शक्ति दें, बल दे, यह स्मृति दें कि मैं इस बातको कभी भूलूँ नहीं कि इस रूपमें मेरे सामने साक्षात् आप हों। इस बातको कहनेमें कठिनाई नहीं होती, परंतु अभ्यासमें आनी चाहिये। फिर आपको दिनभर भगवान्के दर्शन होंगे और दिनभर आपलोग जो करेंगे उसके द्वारा भगवान्का ही पूजन होगा। यही बात गीता समर्थित करती है–

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(गीता १८। ४६)

जितना भी यह संसार है, जगत्–प्रपञ्च है,चराचर भूत है, यह सब–का–सब निकला है भगवान्से और सबमें भगवान् भरे हैं । भगवान् सब जगह हैं, सब समय हैं और सबमें है। ऐसी अवस्थामें भगवान्का पूजन हम चाहे जहाँ, चाहे जब, चाहे जिस रूपमें कर सकते हैं। 'स्वकर्म' पूजनकी सामग्री ही है। अपने स्वाँगके अनुसार बरतना है और यह स्मरण रखते हुए कि भगवान् हैं, स्वकर्मसे उनकी पूजा की जाती है। यह बात याद रखनेकी और जीवनमें उतारनेकी है। इससे बहुत बड़ा लाभ प्रत्यक्ष मिलेगा। आप एक दिन करके देखे, घंटेभर करके देखें, इस साधनको। जो सामने आवे तत्काल याद कर लें कि इस रूपमें नारायण आये, तो सचमुचमें वे नारायण ही होंगे। तब आपको नारायणकी अनुभुति होने लगेगी, आपको नारायणका दर्शन होने लगेगा। यह बात करके देख सकते हैं। फिर चार बातोंको धारण करे–(१) निरन्तर भगवान्का चिन्तन (२) जीभके द्वारा निरन्तर भगवान्का नाम–जप, (३) भगवान्की कृपाके बलपर अपनी भगवत्प्राप्तिमें संदेहका न रहा जाना, (४) सब जगह भगवान्को देखकर व्यवहार करना। ये चार बातें भजन–सम्बन्धी पारमार्थिक हैं।

अब कुछ बातें व्यवहारकी हैं। व्यवहारमें एक बात जीवनमें उतारनेकी है। वह बड़ी सुन्दर बात है। ये जीवनमें अगर उतर जाय तो सब व्यवहार अपने–आप सिद्ध हो जायगा। व्यवहारमें कही गड़बड़ रहेगी ही नहीं। एक ही बात है–'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**' (जो अपने प्रतिकूल पड़ता हो उसे दूसरोंके लिये मत करो)। बस, इस कसौटीपर अपने कर्मोको कस ले और करे। जो–जो बातें हमें अपने मनसे

बुरी लगती है, दूसरेके साथ वह–वह न करे। हमारे लिये जो प्रतिकूल है, दूसरेसे उसका व्यवहार न करे। जैसे हमें कोई गाली दे तो प्रतिकूल है, हमारा अपमान करे, अहित करे, हमारे साथ प्रेमका व्यवहार न करे, हमारी किसी प्रकारसे अनिष्ट कामना करे इत्यादि जितने भी ऐसे कार्य हैं वे सब काम हमको अपने मनमें बुरे लगते हैं, ऐसे काम दूसरेके साथ स्वयं भी न करें। जब व्यवहार करना हो तो यह सोचे कि इसकी जगह मैं होता और मेरी जगह यह होता तो मै क्या चाहता ? वही यह चाहता है मुझसे। इस बातको सोचकर, समझकर, जानकर जो बाते अपने मनके अनुकूल हो वह करे। यदि कोई हमारा आदर–सत्कार करता है, इष्ट–व्यवहार करता है, प्रेम–व्यवहार करता हैं, हमारी सेवा करता हैं, हम रोगी हैं तो हमें दवा देता है, हम असहाय हैं तो हमारी सहायता करता है इत्यादि तो हम अच्छा समझते हैं, मानते हैं। जो–जो बातें हमे अच्छी लगती हैं, वह–वह दूसरेके साथ करें। यह व्यवहारमें एक बात है। ऐसी व्यवहारमें चार बातें मुख्य हैं। इन चार चीजोंका ख्याल रखे व्यवहारमें। एक तो यह कि कभी किसीका अपमान न करे, सबका सम्मान करे–एक नौकरका भी जिसको हम अपनेसे छोटा मानते हैं। उसके भी दिलमें कभी यह भाव न पैदा होने दें कि हमारा अपमान कर रहे हैं ; क्योंकि हम छोटे हैं, नीचे दर्जेके हैं। अपना पुत्र, अपनेसे नीचे दर्जेका कोई भी आदमी हो, उसके साथ व्यवहार करनेमें उसका सम्मान बना रहे। ऐसी बोली बोले, ऐसा आचरण करे कि मन उसके सम्मानकी रक्षा करता हुआ काम करे। दूसरी चीज व्यवहारमें कपट न करे। दूध–पानी साथ बिकता है। पर जरा–सी जहाँ खटाई पड़ी दो–चार बुँद भी कि फट जाता है–दूध अलग, पानी अलग। तो व्यवहारमें कपट न हो। सच्चा व्यवहार हो। हम सच्चाई चाहते हैं। तीसरी बात प्रेमका व्यवहार हो। प्रेमके व्यवहारका अर्थ क्या है ? दूसरेको सुख मिले, ऐसा व्यवहार हो। यह प्रेमका सूत्र है। एक ही सूत्र समझ लेना चाहिये कि हमारा जिसमें प्रेम है, हम उसको सुखी देखना चाहते हैं। अब इसके द्वारा हम सुखी हों ऐसा जहाँ भाव है, वहाँ प्रेम नहीं, वहाँ काम है। **'तत्सुखे सुखित्वम्'** नारदजीका प्रेमसूत्र है यह। उसके सुखमें सुखी होना, उसके दुःखमें दुःखी होना–यही प्रेमका लक्षण है। प्रेमका सीधा अर्थ है सुख देना, सुख पहुँचाना। अतः प्रेमका व्यवहार करो। ऊपरी सुख न हो ; यह समझे कि उससे सुख होगा या दुःख। जैसे कोई बच्चा भूलसे कुपथ्य

चाहता है तो वहाँ अगर माता केवल उसको सुख पहुँचानेके लिये जानती हुई कि इसके लिये हानिकार है, पर अभी यह राजी हो जायगा पथ्य दे दे तो उसका हित नहीं करती। तो सुख जो हो वह हितकर ही होना चाहिये। तो चार बाते देखे व्यवहारमें खास तौरपर। सभी बातोंमें यह शर्त लागू है–जो–जो बात आत्माके प्रतिकूल हो, वह न करे किसी दूसरेके साथ। जो अनुकूल हो वह करे। उसमें भी चार बातें देखे। (१) सम्मान (२) सत्य, (३) प्रेम, (४) हित–इन चार बातोंसे कर्मको पवित्र करके व्यवहार करें । जिस व्यवहारमें इन चार बातोंकी कमी हो उस व्यवहारसे डरे कि हम यह भूल कर रहे हैं। इसका परिणाम कुछ–न–कुछ खराब होगा। सम्मान, सत्य, प्रेम, और हित–ये हुईं व्यवहारकी चार बातें।

एक और बात जीवनमें उतारनेकी है। भगवान्‌ने कहा है–**'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'–** किसी भी प्राणीके साथ कभी भी किसी प्रकारसे भी द्वेष न रखे मनमें। यह बहुत बड़ा एक पाप है। इतना ही नहीं, पापकी जड़ है यह। जिसका जहाँ द्वेष होगा, मनमें वैर होगा, उस आदमीकी दुर्गति होगी, यह निश्चित बात है। वैरवाले, द्वेषवाले बड़े भीषण प्रेत हुआ करते हैं। वे पिशाच होते हैं और उनको नरकोंमें बड़ी बुरी यातना मिलती है। यह मनमें धार ले कि किसीसे हम द्वेष लेकर नहीं मरेंगे। मरनेसे पहले यदि कहीं किसीमें द्वेषकी भावना आ गयी, वैरकी भावना आ गयी तो उसे जीसे निकाल देंगे ; रखेंगे नहीं इस चीजको। किसी प्राणीके प्रति भी हमारे मनमें द्वेष न हो। यह एक बड़ी आवश्यक बात है। और जो गरीब हो, जो दुःखी हो, उसके प्रति करुणाभाव रखे। सबके साथ मैत्रीभाव करे और जहाँ आवश्यक हुआ अत्यन्त करुणा करे, दया रखे। चैतन्यमहाप्रभुने शिक्षा दी सनातन गोस्वामीको। बहुत बातें कही और वे सुनते गये। वे कहते गये। अन्तमें कहा–देखो ! तीन बातें कहता हूँ। इन बातोंके बाद मेरे पास कोई बात नहीं है। बँगलाका पयार छन्द है, बड़ा सीधा''**जीवे दया, नामे रुचि, वैष्णव–सेवन या छाड़ा आर नाहीं जानी सनातन।'** हे सनातन ! यारके नाममें रुचि हो, जीवोंपर दया हो और भक्तोंका संग ; बस, यह आखिरी बात है। इन तीनोंके सिवाय और मै कुछ नहीं जानता। यहींपर उपदेशकी समाप्ति कर दी। तो जीवोंके प्रति निर्दयता न हो, अपितु दया हो। नामकी बात तो मैंने कह ही दी है। तीसरी बात संग–निरन्तर अच्छे संगमें रहनेकी चेष्टा करे। अच्छा संग केवल आदमीका

नहीं, अच्छा संग प्रत्येक अच्छी वस्तुका। बुरी वस्तुका सर्वथा परित्याग न हो सका तो जितना हो सके उतना उनका संग छोड़ दे। बुरा स्थान, बुरा खानपान, बुरा साहित्य, बुरे दृश्य, इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होनेवाली सभी चीजें जो बुरी हों उन्हे त्याग दे। जिन चीजोंसे भगवान्‌की रति बढ़े वे शुभ और जिन चीजोंसे विषयोंकी रति बढ़े वे अशुभ हैं। यह शुभाशुभका सीधा–सा हिसाब है। इतनी कसौटीपर कस ले, फिर कर्म करे। देखनेकी चीज, सुननेकी चीज, स्पर्श करनेकी चीज, चखनेकी चीज, बोलनेकी चीज, जानेकी चीज, मिलनेकी चीज,व्यवहार करनेकी चीज जो कुछ भी हो जड़, चेतन, प्राणी, पदार्थ, अगर उसके संगेसे रुचि भगवान्‌में होती है तो वह हमारे लिये परम शुभ है। बात इतनी ही समझ लेनी है कि–

तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जा सौं होय, सनेह रामपद एतो मतो हमारो।।

यदि बड़ा–से–बड़ा दुःख भी भगवान् रामके चरणोंमें प्रेम पैदा करनेवाला हो तो वह दुःख भी हृदयसे स्वागत करनेकी वस्तु है। संसारका बड़ा–से–बड़ा भोग भी अगर भगवान्‌से अलग करनेवाला हो तो वह भोग भी हमारे लिये किसी कामका नहीं, अपितु उसमें आग लगाने लायक है। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–

जरउ सो संपत्ति सदन सुख सुहृय मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।।

वह भोग आग लगने लायक है ; क्योंकि वह हमें भगवान्‌से छुड़ाकर भोगोंमें लगाता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम है नरक। इसलिये सब चीजोंमें यह ख्याल रखों कि कोई भी चीज थोड़ी–सी भी ऐसी न आ जाय जो भगवान्‌से हटनेवाली हो। उस थोड़ी–सी से भी डरे। मान लीजिये आगकी चिन्गारी है ; यदि वह झोपड़ेमें आ गिरी तो हवाका झोंका लगते ही प्रचण्ड आग बन जायेगी। इस तरह अशुभका जरा–सा भी स्पर्श न हो जाय–आदमीको डरना चाहिये। इसके विपरीत शुभका संग जितना भी हो उतना मंगल है। तो निष्कर्ष यह कि सत्संगमे रुचि रहे और असत्संगमें अरुचि। चैतन्यमहाप्रभुका कहना है–'वैष्णव–सेवन'; वैष्णव माने भगवान्‌का भक्त और सेवन माने उसका संग। भक्तका संग बड़ा लाभदायक है ; शास्त्रोंमें माना गया है। यह जीवनमें उतारनेकी बात है। इसके मूलमें केवल एक यही बात है कि भगवान्‌के साथ चित्त जोड़

दें और जो कोई जोड़नेकी बात कहे ऐसे भक्तका संग, ऐसे संतका संग, हमें अवश्य करना चाहिये। संसारमें दो ही ऐसे हैं जिनके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि ये हमारे अहैतुक प्रेमी हैं। एक भगवान् और दूसरे संत, जो बिना कारण प्रेम करनेवाले होते हैं। इनका यदि कोई बुरा भी करे तो बदलेमें बुरा पानेकी आशंका नहीं है। न तो इनके पास बुरा करनेवाला मन है और न ही कोई बुरा करनेवाली कार्य–मशीन। इनका तो स्वभाव है कि बुरा करनेवालेका भी ये भला करते हैं– **'मंद करत जो करै भलाई'**। इसे भक्तमालमें भी कहा है–जैसे चन्दनके पेड़को कुल्हाड़ी काटती है पर चन्दन उस कुल्हाड़ीमें जो लकड़ीकी बेट लगी होती है, उसे अपनी सुगन्धसे चन्दन बना देता है। तो काटनेवालेको भी जो अपना स्वरूप दे दे, यह संतका लक्षण है। ऐसे संत पुरुषके लिये नारदजीने कहा है–**'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'** संतका मिलना बड़ा दुर्लभ, बड़ा कठिन और अमोघ है। तुलसीबाबा कहते है–**'बिन हरि कृपा मिलै नहिं संता '**। भगवान्‌की बड़ी कृपा होती है तब किसी संतका मिलना होता है । परन्तु मिलन हो भी जाय हो उनको पहचानना मुश्किल (अगम्य) होता है । हमारे पास जो तौलनेका काँटा है, वह हमारी बुद्धि है। इससे संतका तौल नहीं हो सकता। हजारों मन पत्थर तौलनेका जो बड़ा काँटा हो उससे यदि कोई छोटेसे हीरेको तौलना चाहे तो तौलनेवाला मूर्ख कहा जायगा। जरा–सा–हीरा दस–बीस रत्तीका भी होगा तो उसका दाम लाखों रुपये हो जायगा। वह हीरा पत्थर तौलनेवाले काँटेके किसी चीड़में फँस जायगा और उसका वजन मालूम भी नहीं होगा। काँटा नीचे आयगा ही नहीं उस वजनको पाकर। ऐसे काँटेमें हीरेको रखकर यदि कोई यह कहे कि हीरेमें क्या रखा है, जरा–सा तो काँटा नीचा हुआ ही नहीं ; इसमें वजन तो है ही नहीं ; तो जैसे पत्थरके काँटेसे हीरा नहीं तुल सकता वैसे इस विषयप्रबल बुद्धिसे संतका तौल भी नहीं हो सकता। सतंको पहचाननेके लिये संतकी आँख चाहिये या फिर भगवान् कभी कृपा करके कोई आँख दे दें ; नहीं तो हम देखेंगे उन संतका बाहरी रूप ही। हमको एक दम्भी और संतमें भेद नहीं दिखलायी पड़ सकता। हम एक संतको नहीं पहचान सकते ; क्योंकि हमारे पास उनको पहचाननेकी आँख नहीं है। इसलिये शास्त्रकारोंने कहा–भाई देखो, परीक्षा करनेकी तुम्हारे पास कोई चीज है नही कि तुम तौलकर उसका निर्णय कर लो,

तुम एक ही बात समझो कि जिसके पास रहनेसे, जिसकी बात माननेसे, जिसके संगसे भगवान्‌में अभिरुचि हो और दैवीसम्पत्ति बढ़ती हो वह चाहे कैसा भी हो तुम्हारे लिये वह संत है।

अनूपशहरके पास एक सज्जन रहते थे। उनके सत्संगके कारणसे सद्भाव आ गये। उनके मनके जो दोष थे, एकबार छिप गये। उन्होंने समझा कि मुझमें संतपना आ गया। मनुष्यमें यह एक बड़ी भारी कमी है। उस कमजोरीको कहनेका मैं तो अधिकारी हूँ नहीं। क्योंकि वह कमजोरी मुझमें बड़ी भारी है। वह यह है कि मनुष्यमें दूसरोंको उपदेश देनेकी इच्छा बहुत जल्दी हो जाती है। मैं दुनियाँका उपदेशके द्वारा भला करूँ। यह होता है अन्तमें मोह, एक छिपी हुई मानकी इच्छाका परिणाम। ऐसी वासना रहती है मनुष्यके मनमें। उसका परिणाम बुरा होता है। तथापि मनुष्य ऐसा करता है। तो उन सज्जनके मनमें आया कि मैं लोगोंको उपदेश दूँ। मैं तो ठीक हो गया, यह बात साधनामें अच्छी नहीं है।

एक दूसरी घटना बताऊँ आपको। एक व्यक्ति गंगाके किनारे–किनारे जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक जवान उम्रकी लड़की है और चालीस वर्षका पुरुष। आपसमें हँस रहे हैं। लड़की एक गिलास दे रही है और पुरुष पीने जा रहा है। उस देखनेवाले व्यक्तिके मनमें आया कि देखो गंगाके तटपर भी ये पापकी भावना करते हैं। यह स्त्री है और पुरुष। ये हँस रहे हैं। इनके मनमें पाप आ गया। यह शराबका गिलास दे रही है और वे पुरुष पीने जा रहे हैं। यह उसने सोच लिया। थोड़ी देरमें वहाँ एक नाव निकली। नदीमें एक भँवर था। उस भँवरमें नाव फँस गयी। नाव डगमगायी और उसमें पानी आ गया। वह उलट गयी। उसमें बीसों आदमी थे। गिलासको फेंक दिया और तुरंत उस नदीमें कूद पड़ा। बड़ी मुश्किलसे अपनी जानको जोखिममें डालकर उसने उन आदमियोंको बचा लिया। अब देखनेवाला सोचने लगा कि भाई, क्या बात है ? अगर वह व्यभिचारी था, शराबी था, कामी था, तो इतना त्यागी कैसे था कि अपनी जान जोखिममें डालकर, प्राणोंपर खेलकर उसने इतने लोगोंको बचा लिया। यह बात कैसे हुई। उसे सन्देह हो गया अपने विचारपर। वह पास आया और पूछने लगा कि आप कौन है ? उन्होंने कहा, यह बात तो पीछे करना। अभी हमारी सहायता करो। इन लोगोंके पेटमें पानी भर गया है। पहले इसे निकालें। इस प्रकार उसे भी सेवामें संयुक्त कर लिया। वह

लड़की भी सेवा करने लगी। तीनों सेवामें जुट गये। अब कुछ देर बाद जब सब ठीक हो गया तब पूछा, आप कौन हैं ? यह लड़की कौन है ? संदेह मनमें था ही। उन्होंने उत्तर दिया– यह मेरी बेटी है। ससुरालसे आज ही आयी है। हम बगलके गाँवमें रहते हैं। घूमते–घूमते, बात करते हुए गंगाजीके किनारे आ गये । यह हँस–हँसकर अपने घरकी बात सुना रही थी और मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। इतनेमें मुझे प्यास लगी। मैंने कहा, जा बेटी, गंगाजल तो ले आ। यह गंगाजलका गिलास ले आयी। मै पीने जा रहा था कि इतनेमें नाव आ गयी। अब उसने सोचा– 'देख तू कितना बड़ा पापी है। शराब और व्यभिचार तो तेरे मनमें था। तेरे मनमें, तेरे मस्तिष्कमें शराब था, व्यभिचार था। इस पवित्र गंगाजलमें तूने शराबकी भावना की। पवित्र बाप–बेटीके विशुद्ध व्यवहारमें व्यभिचारकी भावना की। तू पवित्र कहाँ है। तेरे मनमें तो अभीतक कलुष भरा है। ऐसा बहुत दफा होता है। हमलोग अपने मनका पाप, अपने–आपकी बुराई दूसरेपर आरोपित कर देते हैं और उसे हम दोषी मान लेते हैं। अतएव ये जो मैंने तीन बातें कहीं वे संतमें संदेह की हैं। ये बड़े विकट दोष हैं ; पर ये दोष किसीमें हैं या नहीं, इस सम्बन्धमें हम भूल भी कर सकते हैं। बड़ी सावधानीसे इन्हें समझना चाहिये।

कामिनी, कंचन और मान– इन तीनकी जहाँ माँग है, वहाँ जरा सावधान हो जाना चाहिये। मानवाली चीज इतनी दूषित नहीं हैं ; क्योंकि यह सूक्ष्म दोष है और यह रहता है बड़ी दूरतक अच्छे पुरुषोंमे भी। पर ये कामिनी–कंचन तो बड़ी दूषित चीजें हैं। ये बड़े स्थूल दोष हैं, मोटे दोष हैं। पर ये दोष भी जिस सतंमें हों वह हमारे लिये संत नहीं, ऐसा मानना चाहिये। एक बात इसी प्रसंगमें यह कह देनेमें कोई अनुचित नही मालूम होगा कि जो आदमी भगवान्‌के स्थानपर अपनी पूजा करवाना चाहे उससे भी सावधान रहे। यह एक बड़ा दोष है और आजकल यह बहुत ज्यादा आ गया। भगवान्‌का आसन व्यक्ति ले बैठता है और वह कहता है कि 'भई देखो कि यह रामायणमें कहा है ; तुलसीदासजी महाराजने कहा है कि भक्त भगवान्‌से बढ़कर है। भक्तकी भगवान् पूजा करते हैं। संत जो हैं ये भगवान्‌से भी बढ़कर हैं।' इस प्रकारकी शास्त्रीय उक्तियोंका अनुवाद करके वह आदमी कहता है कि क्योंकि मैं भक्त हूँ, मैं संत हूँ, महापुरुष हूँ, भगवान्‌का प्रेमी हूँ, इसलिये भगवान् जो कुछ हैं वे तो मुझमें ही हैं।

उक्तियाँ होती हैं और वे ठीक हैं। जैसे– **'गुरू गोविन्द दोनों मिले काके लागूँ पाँव।'** जैसे कोई कहता है कि भई, गोविन्दसे भी बढ़कर गुरु है ; क्योंकि जिन्होंने गोविन्दको मिला दिया। इस तरहकी बहुत–सी शास्त्रकी भी वाणियाँ हैं और भी यथार्थ। उनका दुरुपयोग करके मनुष्य अपनी पूजा करवाता है भगवान्के स्थानपर। यहाँ सावधानीकी आवश्यकता है जीवनमें स्वयं अपने लिये भी। तो इन तीन बातोंसे स्वयं भी बचे। कभी भी इनसे न रमे। कामिनी–कंचन और मान–बड़ाई ये गृहस्थके लिये हानिकी चीजें हैं। यदि कंचनका लोभ है तो निश्चित गिरेगा ही। आजीविकाके लिये धन चाहिये और धनको सत् कमाईसे कमाया जाय। यह दोषकी बात नहीं है। परन्तु अगर कंचनमें आसक्ति है, कामिनीमें आ सकती हैं तो परधनमें और परस्त्रीमें लोभ जागृत होगा ही और वह महापाप है। इसी प्रकार अपनी पूजा करवानेमें भी आदमी को बचना चाहिये। जहाँ मान–बड़ाई मिलती है, वहाँ–वहाँसे हटे और उसमें प्रत्यक्ष उसको दीख पड़े दोष। मैं फिर कहता हूँ कि इसके कहनेका मैं अधिकारी नहीं हूँ, बिल्कुल नहीं हूँ। मेरे मनकी बात आप जानते। मान–बडाई मुझको प्यारी लगती है या खारी इसे मेरा अन्तर्यामी जानता है। रुचिकर नहीं होना चाहिये। यह मैंने इसलिये कहा कि मुझमें यह दोष है। कामिनी–कंचनका तो आकर्षण तो मुझमें बहुत कम है, यह स्वीकार करनमें मुझो आपत्ति नहीं। मुझे स्त्रीपर मोह नहीं होता। न मुझे धनका मोह होता है। पर मानका मोह मेरे मनमें है। यह मैं अनुभव करता हूँ। यह इसलिये कह गया कि 'भाई ! तुम कह रहे हो मान–बडाईकी बात और तुम तो यही हो।' इसलिये पहले स्वीकार कर लेना बड़ा अच्छा। परंतु यह दोष तो है ही । यह पाप तो है ही। यह गिरानेवाला तो है ही। इसलिये मनुष्य सावधान रहे और निरन्तर सावधान रहे कि कहीं अपनी पूजामें, अपने मानमें, अपनी बड़ाईमें संलग्न न हो जाय। यह बड़ी मीठी चीज है, पर है विष । यहाँतक मनुष्यके मनमें एक भ्रम रहता है कि मरनेके बाद मेरा नाम रहे। इतिहासमें मेरा नाम रहे। अरे, किसका नाम रहेगा ? तुम जो आत्मा हो इसका तो नाम है नहीं, और शरीर एक दिन फुंक जायगा। इसके नामको अगर तुम अपना नाम मानते हो तो महा अज्ञानी हो। अज्ञान और क्या होता है ? अज्ञानका रूप क्या है ? इस शरीरको 'मैं' माने, इस नामको 'मैं' माने वह अज्ञानी । यह प्रसिद्ध बात है। तो जो अपना 'स्टेचू'

बनाना चाहे, अपनी ओटोबाइग्राफी अपने–आप लिखकर अपनी तारीफ करना चाहे और इतिहासमें अपना नाम चाहे वह अज्ञानी ही मान जायगा। नाम क्या है ? आत्माका तो नाम होता नहीं। आत्माका रूप भी नहीं है। इस पाञ्चभौतिक पुतलेका नाम और इसकी पूजा तो जो भूत–पूजक हैं, वे करते हैं, आत्मपूजक तो करता नही। यह अज्ञानका स्वरूप है। इसलिये इससे बचे। मान–बड़ाईसे बचे। यही बड़ी मीठी छुरी है, सदा घात करती है। अन्दर–ही–अन्दर काटती है। सारे सत्कर्मोको, पुण्योंको यह धो डालती है। इससे आदमी पुण्यको खो देता है। इसलिये मान–बड़ाईसे और कामिनी–कंचनसे बचो। यह बड़े कामकी बात है।

अन्तिम बात यह है कि मानव–जीवन बार–बार नहीं मिलता। यह भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिल गया है। इसको हम खो न दें। इससे बड़ा घाटा, दूसरा कोई है नही। सारे घाटे न जाने कितनी योनियोंमें कितने बार पूर्ण हो चुके हैं, परंतु यह घाटा अगर रह गया तो महती विनिष्ट, इतना बड़ा घाटा जिसकी पूर्ति बहुत सहजमें नहीं होती, घाटा अपूर्ण ही रह जायगा। इसपर भी बड़े आश्वासनकी बात तो यह है कि जितना जीवन हमारा बाकी है, उतना भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पर्याप्त है। हमने पहले कुछ भी किया हो, उसकी कोई बाधा नहीं आ सकती। अगर हम एक काम कर लें कि अपने–आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दें– बचा हुआ जो जीवन हमारा है वह चाहे एक युग हो, एक वर्ष हो, एक महीना हो, एक घड़ी हो, एक मिनट हो, अन्तिम श्वास ही क्यों न हो, अगर यह हमने भगवान्‌को सौंप दिया तो एक श्वासका जीवन भी हमें भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है। इसलिये निराश होनेकी बात नहीं है, हताश होनेकी बात नहीं है। परंतु यह समझ लेना चाहिये कि हमारा मानव–जीवन जो है यह है केवल और केवल भगवत्प्राप्तिके लिये। यह भोगोंकी प्राप्तिके लिये है ही नही। यह भोग–योनि ही नहीं है। यह मनुष्य जो भोगमें प्रवृत्त होता है और भोगोंमें आसक्त होता है, यह अपनी मानवताको खो देता है। हमारे यहाँ तो जीवनके आरम्भसे ही मदालसा अपने पुत्रको लोरीमें कहता है कि 'तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरंजन है। संसारकी मायासे तू रहित है। तू जा भगवान्‌को प्राप्त कर ले।' यह लोरीमें माताएँ कहा करती हैं हमारे यहाँ ।

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति

बालक, अवस्था, गुरुकुलमें जाना, शिक्षा–प्राप्ति किस लिये ? अर्थके लिये नहीं। हमारे यहाँ बड़े–बड़े गुरुकुल थे। हजारों–हजारों विद्यार्थी उन आश्रमोंमें रहते थे। उनका जीवन महासंयममय था। जूता न पहनना, सुरमा न लगाना, गाना न सुनना, स्त्रीका मुँह न देखना, उसका चिन्ता न करना, तेल न लगाना, जमीन पर सोना, खटियापर न सोना, माँगकर खाना और वह भी अपने– आप नहीं, गुरुके सामने रख दें, वे दें सो ले ले। इस प्रकारका संयममय जीवन था पहले। अब यह हमारे बोर्डिंग हाउस हैं जहाँका जीवन सब तरहसे उच्छृंखल, असंयमित होता है। ऐसा क्यो ? यह इसलिये कि पहले जीवनका उद्देश्य बचपनसे ही बनता था ब्रह्मकी प्राप्ति और वह था सच्चा जीवन। मनुष्य क्यों पैदा होता है जगत्में ? यह पैदा होता है केवल और केवल भगवान्‌को पानेके लिये। मनुष्य भोगयोनि है ही नहीं। यह अगर भोगमें लग गया और इसका विवेक यदि भोगमें प्रवृत्त हो गया तो यह निश्चित राक्षस बनेगा, पिशाच बनेगा, असुर बनेगा। जितने भी हिंसक जीव हैं ये इतने जीवोंको नहीं खा सकते जितनोंको यह खाता रहेगा। हरेक प्रकारसे यह हिंसामय बनेगा। इसके कारखानें इसकी मिलें इसका आयोजन, इसके बड़े–बड़े युद्ध, बड़े–बड़े काण्ड, इसकी बड़ी–बड़ी फैक्ट्रियाँ, इसके आविष्कार सब क्या हैं ? ये सब कसाईखानेसे बढ़कर हैं। यह भोगोंमें प्रवृत्त हुआ कि इसका पतन हुआ। फिर मानवता न रह सकती उसमें। मनुष्यकी मनुष्यता तो एक बातको लेकर ही है कि उसके जीवनकी गति भगवान्‌की ओर हो। बस, इसलिये यह अन्तिम बात है जो आपसे मुझे प्रार्थनाके रूपमें कहनी हैं कि मानव–जीवनकी जो वास्तविक सुन्दर स्थिति है उसकी भूल नहीं। जो कुछ भी मानवको प्राप्त है, वह भगवान्‌की कृपासे प्राप्त है। मनुष्य अपने जीवनको इसीमें लगावे। दूसरे किसी काममें न लगावे। जो काम इसमें बाधक हो उसको अपना शत्रु समझे। कोई प्राणी, कोई पदार्थ जो भी है वह भगवान्‌के लिये है। जो जितना बचा हुआ जीवन है और जितना जीवन बाकी है अथवा जितने श्वास बाकी हैं उतना ही भगवान्‌को सौंप दे। भाई, अबतक तो हम बड़े कुप्रवृत्तिमें रहे। हमने खोया ही खोया ; आपकी थैलीका हमने नाश कर दिया। आपकी सारी पूँजी गवाँ दी। अब तो सात श्वास बचे हैं सात नहीं, दो श्वास बचे हैं ये आपको अर्पण। इतनेमें ही वे कह देंगे– 'भाई, आ गया। आखिर खो–खाकरके शरण आ गया।' कहेंगे– 'मत चिन्ता करो ; तुम आये और मै आया। यह है बड़ी सीधी बात भगवत्प्राप्तिकी। इसलिये इस जीवनके प्रधान कार्यको कभी न भूले और इसीमें लगे रहें।

शरणागति

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीतामें कहे हुए भगवान् श्रीकृष्णके ये वचन उनके परिपूर्णतम, सबके आदि और स्वयं भगवान् होनेकी घोषणा करते हैं। सम्पूर्ण जगत् उनके एक अंशमात्रमें स्थित है। उनके सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, सारा चराचर जगत् सूत्रमें मणियोंकी भाँति उनमें ही गुँथा है। अतः उनमें आत्मगोपन नहीं है, पर भगवान् राम मर्यादापुरुषोत्तम बनकर आये तब छिपकर मर्यादामें रहे फिर भी कहीं–कहीं उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो ही गया। परंतु श्यामसुन्दरमें यह संकोच नहीं ।

तत्त्वतः राम और श्याममें कोई अन्तर नहीं है। जो राम हैं, वही श्याम हैं और जो श्याम हैं, वही राम हैं। वैसे ही उनके और रूपोंमें कोई भी अन्तर नहीं है। भेद है केवल लीलाविलासका ; परंतु जैसा अपने सम्बन्धमें खुल करके भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा है, वैसा कहनेमें दूसरे सकुचाते हैं। भगवान् अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, त्रिकालज्ञ हैं, उनसे कोई बात छिपी तो है नहीं। उन्होंने अर्जुनके सामने बहुत गोपनीय रहस्योंका उद्घाटन किया और अपने स्वरूपको प्रकट किया तथा कहा–**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**–इस भगवद्वाणीमें धर्मोंके त्यागकी बात नहीं, अपितु धर्मोंके आश्रयके त्यागकी बात है और मात्र एक आश्रय ग्रहण करनेकी–प्रेम करनेकी बात है–

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा।।

भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि–सब धर्मोको छोड़ दो और सब धर्मोका आश्रय छोड़कर, सबका परित्याग कर **'मामेकं शरणं व्रज'** एकमात्र मेरी शरण हो जाओ, तथा **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'**–मन दे दो। मन दे दिया तो सब दे दिया। फिर यदि कहो कि मन तो दे दिया, लेकिन तन ! 'तनसे मेरी सेवा करो'– यहाँ सेवाका अर्थ है भजन और भक्तिका अर्थ है सेवा। सर्वात्म–समर्पणपूर्वक अपने इष्टदेवके मनोऽनुकूल आचरणवाला जीवन बन जाय तो इसीका नाम भक्ति है। मेरे

भक्त बनो। **'मद्याजी'** का मतलब है कि–'केवल मेरी पूजा करनेवाले बनो'।

तात्पर्य यह कि जिससे सब निकले तथा जो सबमें व्याप्त है **'येन सर्वमिदं ततम्'** उस व्यापक भगवान्‌की पूजा करो। भाव यह कि वह व्यापक भगवान् मैं ही हूँ और कोई नहीं है। इसलिये बिना संकोच स्पष्ट कह दिया कि 'मेरी पूजा करो'। मेरी पूजा करनेवाले बनो, हाथ जोड़ना हो, नमस्कार करना हो, दंडवत् करना हो तो मुझे ही करो।

देखो, भगवान् श्रीकृष्णने ऋषियोंके द्वारा पूजा भी स्वीकार की, स्वयं पूजा करते भी रहे। अर्थात सारे **'इदम्'** को अपने समेट लिया यह भी मैं, वह भी मैं। जिसको– जिस आत्माको **'अहम्'** कहते हैं, उसे **'सः'** भी कहते हैं अर्थात वह भी मैं। जो **'इदम्'** (यह) दीखता है वह प्रपंच भी मैं। मेरे सिवा कुछ है ही नहीं। मैं ही खेलता हूँ और अपनेमें ही खेलता हूँ। मैं श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर–नटवर–वपु–रूपमें नये–नये स्वाँगोंमें खेलता हूँ। यह है भगवान्‌की लीला। परमगोपन और सर्वविदित । यह सर्वगुह्यतम है– **'सर्वगुह्यतमम्।'**

भगवान्‌का रहस्य तो केवल भगवान् ही जानते हैं। अन्य जो भी जाननेका अभिमान करते हैं, वे सब अज्ञानी हैं। इस **'सर्वगुह्यतमम्'**का तात्पर्य यह है कि भगवान् चाहते हैं, कहते हैं कि मेरे साथ यदि किसीको प्रीति करनी हो, मुझसे यदि किसोको प्रेम करना हो तो जगत्‌के सारे कर्तव्य–अकर्तव्योंसे ऊपर उठना पड़ेगा। जगत्‌के सारे भयोंसे और सारी आशाओंसे मुक्त होना पड़ेगा। जगत्‌की सारी क्रियाओंसे, अक्रियाओंसे अलग होना होगा। अर्थात क्रिया और अक्रिया– दोनोंमें उनका पूजन, त्याग और भोग दोनोंसे उनका पूजन, छोंड़ने और करने दोनोंसे उनका पूजन, तात्पर्य, उसके सिवा जीवनमें अन्य कुछ भी न हो तो अपना हैं तथा न कोई प्राप्तव्य है और नही कुछ करने योग्य कार्य है। प्राप्त करने योग्य वस्तु, सेवन करने योग्य वस्तु है तो बस एकमात्र परम प्रेमास्पद भगवान् अर्थात मैं।

भगवान्‌के प्रति ऐसा समर्पण जब हो जाता है, तब उस प्रेम–राज्यमें तरंगित रहता है केवल प्रेम–समुद्र। जहाँ उसका तल है, वहाँ तो वह सर्वथा प्रशान्त है। वहाँपर न विक्षोभ है न तरंग है न लहरियाँ हैं। परंतु वह समुद्र–अत्यन्त प्रशान्त है और महासागर है– इतना विलक्षण है कि उसी सागरमें अनवरत नित्य नव–नव

तरंग–मालाएँ नाचती रहती हैं। वह जैसे शान्त है, ठीक उसी प्रकार वह नाचनेवाला भी है। जैसे अनन्त है, उसी प्रकार अन्तकी लीला करनेवाला भी है। जिस प्रकार अगाध है, उसी प्रकार छलकनेवाला भी है'। जिस प्रकार निःस्तब्ध है, उसी प्रकार महान् शब्द करनेवाला भी है। युगपत–विरुद्ध–धर्माश्रयत्व जिसमें रहे – उसका नाम है भगवान्। इसका संकेत उपनिषदोंमें, वेदोंमें सर्वत्र है– **'अणोरणीयान् महतो महीयान्।'**

यह विषय बुद्धिग्राह्य नहीं है। बुद्धिमें ब्रह्म आता नही– आ सकता नहीं। यह **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** है, अर्थात बुद्धिग्राह्य नहीं–अतीन्द्रिय है। बुद्धि–ग्राह्यका अर्थ केवल इतना है कि बुद्धि समझती है कि यह अतीन्द्रिय है। बुद्धि केवल उसकी अतीन्द्रियताका परिचय प्राप्त कर पाती है, उसके स्वरूपका नहीं। यदि प्रकृतिसे उत्पन्न बुद्धि उस ब्रह्मके स्वरूपका आकलन कर ले, उस बुद्धिमें वह रूप समा जाय, यद्यपि यह सर्वत्र सब जगह समाया हुआ है, पर बुद्धिमें ठीक–ठीक समा जाय, तब बुद्धिजन्य हो सकता है। परंतु श्रुतियाँ कहती हैं **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** जहाँसे यह वाणी, मन, बुद्धि तथा चित्त सब लौट आते हैं, उसके वास्तविक स्वरूपको समझकर वर्णन करते है– यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं– तब फिर उसका आकलन कौन करे ? उसे कौन बताये ? वह किसकी वाणीमें आये ? वहाँ तो ऐसा निर्देश प्राप्त होता है कि इस प्रकार जो तत्त्व है वह तत्त्व ही जहाँपर अपना बनकर अपने गुणोंको प्रकट करता हैं, अपने गुणोंका अवतरण कर लीलाविलासमें प्रवृत्त होता है,उस परमतत्त्वका नाम श्रीकृष्ण। वैष्णवोंके दर्शनको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने बड़ा विचार किया है। विचारकी धारा अलग और विचारकी दृष्टि अलग रखकर उन्होंने आह्लादिनी,संधिनी और संवित्– इन तीन शक्तियोंका विवेचन किया है। विष्णुपुराणमें यह संदर्भ प्राप्त है। आह्लादिनी शक्ति भगवान्‌का नित्य आनन्दमय स्वरूप है। वह आनन्द ही, वह आह्लाद ही नित्य–निरन्तर श्रीविग्रहके रूपमें प्रकट है– हुआ नहीं, अपितु नित्य–प्रकट है, नित्य उद्वेलित है, नित्य उच्छालित है, नित्य लीलापरायण है। वह आनन्द शान्तानन्द ही नहीं उच्छलितानन्द भी है। नर्तनानन्द भी है, संगीतानन्द भी है, विरहानन्द भी, मिलनानन्द भी है। इस प्रकार वह आनन्द–आह्लाद जहाँ प्रत्यक्ष प्रकट है, उस प्रकट आह्लादके श्रीविग्रहका नाम है राधा। ये जो लीला–धाम हैं– ये जो

लीला–परिकर हैं– ये सब–के–सब संवित्–शक्ति हैं – भगवान्‌की स्वयंकी चित्ति–शक्तिद्वारा इन सबका प्रादुर्भाव होता है। जो सत्–शक्ति है, वही शक्ति लीलाके रूपमें प्रकट होती है। लीला–परिकर, लीला–स्थान, लीला और लीलाका प्रधान पात्र भी वही है। अब प्रश्न आता है– श्रीगोपागंनाएँ क्या हैं ? ये श्रीराधाकी काव्यव्यूह–रूपा हैं। राधा है श्रीकृष्णका अभिन्न स्वरूप आनन्दांश और राधाके शरीरसे– राधाके श्रीविग्रहसे जिनका प्राकट्‌य हुआ, वे सब–की–सब हैं गोपागंनाएँ–राधाकी कायव्यूहस्वरूपा ! नित्य–निरन्तर लीलाधाममें प्रकट जो महारास है– महालीलाविलास है, उसमें इन कायव्यूहरूपा श्रीगोपागंनाओंका नित्य स्थान है। उनके साथ ही नये–नये साधनसिद्ध महात्मा लोग श्रीगोपागंनाओंका स्वरूप प्राप्त करके, उस लीलामें सम्मिलित होते रहते हैं। जो इस मार्गके अन्वेषक हैं, अनुसंधानकर्ता हैं, साधक है, अनुशीलन करनेवाले हैं, वे साधनसिद्धा गोपियोंके रूपमें नित्य–सिद्ध हो जाते हैं– नित्य–पार्षदत्वको प्राप्त हो जाते हैं। तथापि इन सबके मूलमें हैं राधा।

यह लीलाविलास है सच्चिदानन्दका लीलाविलास। इस लीलाविलासकी प्रधान नायिका हैं श्रीराधाजी ! उन राधाजीमें जहाँ–जहाँपर जिस–जिस रसका जब–जब उन्मेष होना आवश्यक है, वह अविराम होता रहता है। प्रकटतः उसके आठ रूप माने गये हैं– पहला रूप है व्यापक, उसका नाम है 'प्रेम'। इस प्रेम का स्तर है श्रीकृष्ण–रुप–वृत्ति। 'प्रेम' केवल पारिभाषिक नाम है। इस वास्तविक प्रेमका स्वरूप है स्नेह। यह वह स्नेह नहीं जैसा अपनी प्रचलित भाषामें अपनेसे छोटोंके प्रति होता है, अपतु यह स्नेह उसी पवित्र प्रेमका एक परिष्कृत रूप है। स्नेहके बाद तीसरा रूप होता है मान। मानका नाम सुनकर डर जाते हैं लोग, परंतु यह वह मान नहीं, श्रीकृष्णके सुरत–संवर्धन–हेतु प्रकट नम्रता ही यह मान है। चौथा रूप होता है प्रणय। प्रणयके बाद पाँचवाँ रूप होता है राग। छठा अनुराग, सातवाँ स्तर रूप ग्रहण करता है भावका और आठवाँ स्वरूप होता है महाभाव। ये भाव और महाभाव– दोनों प्रायः एक ही हैं, परतु भावका जहाँ पूर्ण विकास है– गोपीभावकी जहाँ राधाभावमें परिणति हैं– वह है महाभाव। उस महाभावमें फिर दो विलक्षण स्थितियाँ और प्रकट होती हैं, जिनके प्रेमशास्त्रके अनुसार नाम हैं–मादन और मोदन। राधाका मादनाख्य भाव और राधाका मोदनाख्य भाव। इसकी भी बड़ी

उज्ज्वल पवित्रतम व्याख्या है– मादनाख्या भावमें अपनेमें महान दैन्यका अनुभव होता है। इसका यत्किंचित् निर्देश प्राप्त होता है। एक लीलामें श्रीकृष्ण चले गये मथुरा। जानके बाद श्रीराधा समझती है कि अब कुछ भी शेष रहा नहीं। श्रीकृष्ण तो अब मिलनेके नहीं। फिर भाव आता है कि अब तो केवल अँधेरा ही रह गया। मुझे जीना नहीं है, जी सकती ही नहीं। पर एक अवलम्बन अवश्य मिल गया है श्रीकृष्णका कृष्णापन। काला रूप जो है वह उन्हींकी तो छाया है। अन्धकार–ही–अन्धकार चारों तरफ दीखता है, उस अँधियारेमें भी प्रतिभासित है श्रीकृष्णकी ही छाया। (पूर्व रागके समयकी एक बात है) एक बार श्रीराधा श्रीकृष्णतक नहीं पहुँच सकीं, कई तरहके विघ्न थे, बाधा थी– परंतु कालिमाकी छायामें जा करके श्रीराधाने श्रीकृष्णका अनुभव कर लिया। परंतु फिर दूसरी वृत्ति मनमें आयी, विचार करने लगीं कि छाया होते तो पड़ती । वे तो हैं नहीं और मेरे इस वियोगकी ज्वालासे सूर्य–चन्द्रमा भी जल गये, वे दोनों नहीं रहे। फिर छाया जिन सूर्य–चन्द्रमाके आधारसे पड़ती है वह स्थिति भी नहीं है, अब तो बच गया है अन्धकार, रह गयी है अँधियारी, निशा याद दिलानेवाली है । अतः यह कालापन ही मेरे जीवनका आधार रह गया है। अब तो इसीको लेकर मैं जीऊँगी। उसके बाद दैन्य जब और फूटता है, तब भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं। ध्यान देने की बात है, श्रीराधा एवं गोपागंनाओंके लिये श्रीकृष्ण तो भगवान् हैं नहीं। वे परम प्रेष्ठ हैं, प्रियतम हैं, प्राणाधार हैं। प्रार्थना होती है प्रभुकी–श्रीमन्नरायणकी। वे जगदाधारसे प्रार्थना करती हैं– हे भगवान् ! मेरी मनःकामना पूर्ण करें, प्रभो ! जिस ओर मैं जाना चाहती हूँ, उससे विरूद्ध मेरा एक पैर भी न टिके। किस ओर जाना चाहती हैं, यह भी स्वयं ही बताती हैं। वे कहती हैं– 'मेरे कलेवरका तापमान बढ़ता चला जा रहा है। शरीरका,मनका तापमान इतना बढ़ता जा रहा है कि वह पास आनेवालेको भी जला देगा। अतः श्रीकृष्ण जिस दूर देशमें हैं– हे भगवन् ! मुझे उससे विरूद्ध देशमें ले चलो ! श्रीकृष्णके समीपमें मैं न पहुँचूँ कभी ! मुझे दूर ले चलो और दूर–से–दूर ले चलो। यदि कहीं मैं मार्ग भूल गयी, श्रीकृष्णकी ओर चल पड़ी और उनके समीप पहुँचँ गयी तो मेरे तापमानसे, मेरे शरीरकी गर्मीसे वायु उत्तप्त हो जायगी। पवन उत्तप्त हो जायगा और वह उत्तप्त पवन उस नील कलेवरको झुलसा देगा। अतएव हे नारायण ! यह कदापि न घटे। मैं विपरीत

चलूँ–दूर चलूँ। यही रूचिकर है।'

यहाँ मादनख्या दैन्यका भाव है, इसीलिये वे कहती हैं कि मैं दूर जाना चाहती हूँ, जिससे मेरे उत्तप्त अंगोंका स्पर्श पाकर अति उत्तप्त वायु मेरे प्राणनाथके नीलकलेवरका स्पर्श न कर सके और वह सुखसे रहें। दूसरी भावना जब मनमें आती है, तब वे विचार करने लगती हैं– मैं जब चलती थी तो मेरे पीछे–पीछे भ्रमरोंका दल चलता था–गुनगुनाता हुआ, गुंजार करता हुआ। तब मुझे लगता था कि ये भौरे क्यों उड़ रहे हैं। ये भौरे मेरे पीछे क्यों चल रहे हैं। उत्सुकतावश पीछे एक दिन मुड़कर देखा– श्यामसुन्दर मेरे पीछे–पीछे चल रहे थे। श्यायसुन्दरका वह कलेवर दिव्यगंधयुक्त है, नित्य सौरभित है। दिव्य–कमलगंध–पूरित उस गंधको पानेके लिये ही ये भौरे उड़ते चले जा रहे थे। इसीसे मैं यह समझती थी कि श्यामसुन्दर मेरे साथ हैं और मुझसे उनको सुख मिल रहा है। उसी सुखानुभुतिसे भौरे गुनगुना रहे हैं, पर अब तो श्यामसुन्दर चले गये। वे ही तो मेरे जीवनके जीवन थे।

जीवन्तता हो तो शरीरको सुवासित करती है। दुर्गंधसे बचाये रखती है। जीवन गया, कुछ ही क्षणोंमें शरीर सड़ने लगता है–दुर्गंधयुक्त हो जाता है । श्रीराधाके मनमें भावना आती है– मेरे शरीरके जो प्राण थे, वे तो छोड़कर चले गये, अब तो केवल ढाँचा रह गया है। वही चलता है। पर जब प्राण निकल गये तो शरीर अब दुर्गंधयुक्त हो गया, सड़–गल गया। हे भगवान् ! हे नारायण ! मुझपर कृपा करो कि मैं अपने श्यामसुन्दर जहाँ हैं, उससे इतनी दूर रहूँ, इतनी दूर रहूँ कि मेरे दुर्गंधयुक्त शरीरकी वायु भी उनका स्पर्श न कर सके। उन्हें दुःखी न बना सके। मुझे दूर रहना है। अतः मुझे दूर ले चलो।'

फिर एक नवीन उद्धावना आयी। मेरे श्यामसुन्दर मुझको छोड़कर चले गये। यह बड़ा ही सुन्दर हो गया। वही हो गया जो मैं चाहता थी। भगवान्ने मेरी इच्छा पूर्ण कर दी। मैं नितान्त अयोग्य, नितान्त अनधिकारिणी, सर्वथा दुर्गुणवती, सर्वथा कुरूपा, सर्वथा कुलक्षणवाली हूँ। श्यासुन्दर मुझपर, सिर्फ मुझसे प्रेम करें और इसको अपना सुख मान लें। यह तो उनका सर्वथा भ्रम था। मैं भगवान्से प्रार्थना किया करती थी। भगवान् ! मेरे प्रियतम श्यासुन्दरका भ्रम आप मिटा दें– और किसी प्रकार ये मेरा परित्याग कर दें। मैं उनसे प्रार्थना करती, समय–समयपर अपने प्राथनाथसे

निवेदन भी करती–नाथ ! यह दुःख वरण करना आप छोड़ दीज़िये। उन्हें समझाती कि 'मेरा यह साहचर्य तो आपके लिये दुःखरूप ही है, पर इसे, मान रहे हैं आप अपना सुख ; क्योंकि मुझमें आपकी आसक्ति–अनुरक्ति है। अतएव आप कृपा करके अपने इस भ्रमका निवारण करें, बहुत अधिक अधिकारिणी देवियाँ हैं, गुणवती, शीलवती, सब तरहसे मुझसे सुयोग्य । आप उन्हें स्वीकार कर लें।' जब–जब मैं यूँ कहती, तब–तब श्यामसुन्दरका मेरे प्रति अनुराग और बढ़ता चला जाता । तो मैं विचारमें पड़ गयी कि अब मैं क्या करू ? कहती हूँ तो इनका अनुराग और बढ़ता है– आसक्ति और बढ़ती है और इस कारण इनका दुःख ही बढ़ता है, प्रकारान्तरसे और नहीं कहती हूँ तो इनके दुःखको मैं देख नहीं सकती। इनका दुःख कैसे मिटे? मेरे परित्यागसे मिट सकता है। मुझे ये त्याग दें तो इनका दुःख मिट जायगा । मैं तो इस त्यागके लिये तैयार हूँ ही।

नारायणने मेरी प्रार्थना सुन ली–देवने मेरी प्रार्थना सुन ली–इसलिये अक्रूर इन्हें मथुरा ले गये। जब ले गये तो वहाँ जाकर इनको योग्य अधिकारी कोई प्राप्त भी हो गया होगा। मेरी उन्हें विस्मृति भी हो गयी होगी। और मेरी विस्मृति उनके लिये सुखदायिनी होगी ही। आज मेरी साध पूरी होगी। यह प्रिय–सुखसम्पादनके भावकी पराकाष्ठा ।

जीवमात्रकी यह दशा है कि अगर जरा–सी मनके अनुकूल भगवान् न करें तो भगवान्पर नाराज हो जाते हैं। हम अधिकांश भजनवाले लोग भगवान्को भजते ही इसलिये हैं कि भगवान् हमारे लिये अनुकूलता उत्पन्न करते रहें, स्वयं भी, पदार्थोंके द्वारा भी । हमारी इच्छाओंको भगवान् पूर्ण करते रहें, इसलिये भी हम भगवान्को भजते हैं। उस भजनके बदले हमें भगवान् अधिक सुख दे दें–दुःख तो बिलकुल दें ही नही। यदि दुःख प्राप्त हो, तब तो फिर भगवान्की आवश्यकता रहती ही नहीं। पग–पगपर नित्य–निरन्तर स्वयंको उपासक माननेवाले लोग–भगवान्की भक्ति करनेवाले जो अपनेको 'हम' मानते हैं ऐसे लोग, अपनेको, विरक्त माननेवाले लोग जहाँ–कहीं भी प्रतिकूलता देखते हैं, जहाँ–कहीं भी जरा–सी मान–भंगकी स्थिति आती है– केवल विचारमात्र आता है कि किसीने हमारा आदर नहीं किया–हम भगवान्को कोसने लगते हैं। यह बड़ा विचारणीय प्रश्न है। इस विष्ठा–मूत्रादिसे भरे शरीरमें कौन–सी बढ़िया चीज भरी है, जिसको लेकर हम अभिमान करें। इस शरीरको

लेकर हम यह कहें कि हम कुछ बड़े है, हमारे अंदर कोई महत्वका पदार्थ है—यह बड़े ही सोचका विषय है। इस शरीरका जहाँ—कहीं सम्मान नहीं हुआ, आराम नहीं मिला और इस शरीरके कल्पित नामकी जहाँ पूजा नहीं हुई, हम भगवान्‌को कोसने लगते हैं। उन लोगोंको असभ्य मानते हैं। असंस्कारी मानते हैं, प्रेमी नहीं मानते। सत्संगी नही मानते।

तात्पर्य इतना ही है जब कभी अपनी वासनाकी पूर्तिका प्रश्न आये, वहाँ वासना—पूर्तिका आयोजन हो नहीं तो हम वैपरीत्यका अनुभव करने लगते हैं। प्रवचन करना चाहे। और सफलता न मिले तो मनमें आता है, कि यहाँ तो कोई सत्संगकी बात जाननेवाला है ही नहीं, कोई प्रेमी है ही नहीं। यहाँपर तो सब—के—सब रूखे लोग हैं। सब भोगोंमें लगे हैं। कोई भी सत्संगकी बात नहीं करता।

इन्होंने समय देकर सत्संग नहीं किया, ये सब असत्संगी क्यों हैं, अप्रेमी क्यों हैं, रूखे क्यों हैं, इसमें सभ्यता क्यों नहीं— इन सबका एक ही उत्तर है— इन्होंने हमारा मान नहीं किया। और हमें मानकी भूख थी, यही हमारे दुःखका कारण बन गया। यदि हम अपनी बात भगवान्‌को सुनाते होते तो दूसरी चीज होती।

एक बारकी बात है – तानसेन बड़े संगीतज्ञ थे। अकबरके सामने एक बार उन्होंने 'मल्हार राग' गाया। अकबर उसे सुनकर विह्वल हो गया। और बोला—तुमने कहाँ सीखा, इतना बढ़िया कोई गा नहीं सकता। तानसेनने उत्तर दिया—महाराज, मैं तो कुछ नहीं गा सकता, मेरे गुरूजी—हरिदासजी महाराज जैसा गाते हैं वैसा तो आपने कभी सुना ही नही होगा। मैं तो उनके सामने सूर्यके सामने जुगनू—जैसा हूँ। अकबरने कहा—उनका गायन सुनाओ। तानसेनने उत्तर दिया—उनका गायन सुनाना हमारे हाथमें थोड़े ही है, आपके हाथ थोड़े ही है कि आप चाहें उनको बुलावा भेजें और वे आपके दरबारमें आ जायँ, ऐसे तो वे है नहीं। अकबरके मनमें उत्सुकता जग गयी थी। उसने कहा—क्या उपाय करें ? सुनना तो है। तानसेनने सुझाव दिया—थोड़ी देरके लिये बादशाहियत भूल जाइये। सादे कपड़े पहनकर वास्तवमें साधारण आदमी बनकर हमारे साथ चलिये। तब कोई व्यवस्था करेंगे। सुननेकी इच्छा थी अकबरकी। अतः जैसा तानसेनने कहा वैसे ही वेश बदलकर कुटियाके पास पहुँचे । तानसेनने कहाँ कि पेड़के नीचे बैठ जाइये अलग। अकबरको समीप ही

पेड़के नीचे कुटियाके बाहर बैठा दिया और स्वयं अन्दर गये। हरिदासजी अपने भगवान्‌की प्रेम–समाधिमें मस्त थे। कुछ देरके बाद उनकी प्रेम–समाधि टूटी। बोले – 'तानसेन अच्छे हो ! कैसे आ गये ?' तानसेनने उत्तर दिया– 'महाराज, ऐसे ही आ गया। उस दिन जो राग आपने सुनाया था, वह मुझे ठीक याद नहीं रहा, मैं फिर सुनना चाहता हूँ। 'बोले–सुनो ! लाओ एकतारा। लिया एकतारा और लगे सुनाने। उसके प्रभावसे अकबर भावविभोर होकर मूर्छित हो गये। उनको जो चीज आज श्रवण करनेको मिली, वैसी जीवनमें बड़े–बड़े गवैये, बड़े–बड़े सगीतज्ञ, कलाविद् अच्छे कण्ठवाले आये, पर ऐसा सुख नही मिला, जैसा आज प्राप्त हुआ। अकबरको चेत हुआ। अकबरने कहा कि तानसेन ! तुम बड़े गवैये हो, तुम ऐसा क्यों नहीं गातें, क्या बात है ? तानसेनने उत्तर दिया–महाराज, बात यह है कि वे सुनाते हैं भगवान्‌को और मैं सुनाता हूँ आपको। यही अड़चन है। बुलासा (बोली निकालना) अलग चीज है और भगवान्‌का गुणगान करना और चीज है। तुलसीदासजीने इतना बड़ा ग्रन्थ रचा, पर भूमिकामें कहते हैं–**'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा०'**। 'स्वान्तः सुखाय' इसके द्वारा इस बहते हुए अमृतसे कोई लाभ उठा ले, कोई नहा ले, यह अलग बात है, पर मेरा ग्रंथ ऐसा हो, इससे जगत्‌का उपकार हो, भला हो इस प्रकारकी किसी वासनाको प्रेमी संत नहीं रखते। उनका सम्बन्ध तो रहता है अपने भगवान्‌से। वे अपने भगवान्‌के सामने कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी उनका गुणानुवाद करते हैं, कभी चरित्र गाते हैं। ठीक यही स्थिति यहाँ भी है। इस पिंजरेमें बैठै पक्षीके गानको कोई उड़ता हुआ पक्षी सुन ले और याद कर ले वह अलग चीज है, पर यह तो अपने पिंजरेमें आबद्ध है अपने भगवान्‌को अपने अंदर लिये हुए। उसीको सुनाता है। जहाँपर वासना मनमें है, वहाँपर जरा–सी भी अनुकूलपना नहीं दिखता, मान नहीं दीखता तो हम भले लोगोंको भी कह देते है कि बुरे लोग हैं – असंस्कारी हैं, असम्य हैं, हमारा इन्होंने मान नहीं किया। हमारी बात सुनी नहीं। यह ठीक है, यदि कोई सुनाने जायँ और उसकी बात न सुनें तो दुःख होगा। होना स्वाभाविक है। इसमें उनका कोई अपराध नहीं है। पर ये प्रेमी भक्त दुनियाँको सुनाने नहीं जाते।

'सर्वधर्मान् परित्यज' भी यही है। अर्जुन दूसरे क्षेत्रमें था। इसलिये भगवान्‌को उसके द्वारा जो काम करवाना था वही करवाया यन्त्रवत् ।

यही मोह–नाश है। भगवान्‌ने कहा कि मोह–नाश हो गया ? अर्जुन मान रहा था कि मैं यह करूँ कि नहीं करूँ ? यही तो मोह था और मोह था क्या ? उसको स्मृति आ गयी कि अरे, मैं तो इनके हाथका यन्त्र हूँ। ये यन्त्री और मैं यन्त्र, ये करानेवाले हैं, करनेवाला मैं। 'मैं' कहनेवाला–करनेवाला कौन ? **'न योत्स्ये'** मैं तो यन्त्र हूँ। 'नहीं लडूँगा' यह कहनेवाला कौन ? कभी कठपुतली कहती है क्या कि मुझे सीधा नचाओ, टेढ़ा नचाओ। मुझे सुलाओ मत, खड़ी रखो। वह तो अपने–आप सूत्रधारके सूत्रके इशारेपर नाचती है, बिना किंतु–परंतु किये। यही स्मृति अर्जुनको हो गयी कि मैं तो आया था इस कामके लिये यन्त्र बनकर और बनने लगा यन्त्री आपके समकक्ष। अर्जुनकी जो स्वीकृति है इस स्वीकृतिमें शरणगतिका मर्म है । संक्षेपमें मोह–नाश हो गया, इस वृत्तिका नाश हो गया कि 'मै कुछ कर्ता–कराता हूँ, करने–करानेवाला हूँ, करूँगा–कराऊँगा।'शरणगति परतन्त्राका साधन है। भगवान्‌के परतन्त्र हो जाना–स्वतन्त्रता रहे नहीं। भगवान्‌की परतन्त्रताको स्वीकार कर लेना ही शरणगति है। और शरणागत कभी स्वतन्त्र नहीं होता। उसकी इच्छा भी स्वतन्त्र नहीं रहती। कोई अलगाव, कुछ भी अलग लिये हुए यदि कोई है तो उसके समर्पणमें कुछ कमी हैं । समर्पणमें जब समर्पक अपने–आप उसमें आकर बैठ जाता है, तभी वह कह सकता हैं –

'मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

भक्त कहता है कि हमने आपमें मन लगा दिया, आपको मन अर्पण कर दिया। पर भगवान् कहते हैं मन उसका है नहीं, मेरा मन ही उसका मन बनकर बैठा गया है। जहाँ भगवान् यह कहते हैं, वही पूर्ण समर्पण है। वहाँ अपनी अलग स्वतन्त्र इच्छा, स्वतन्त्र सत्ता, स्वतन्त्र मान्यता है ही नहीं। केवल उनकी इच्छाकी सत्ता है। श्लोकमें **'मत्प्राणाः'** पद है' **मद्‌गतप्राणाः'** नहीं हैं, 'मन्मनस्क मत्प्राण हैं।' ऐसी स्थितिमें वे भक्त भगवान्‌के प्राणोंसें अनुप्राणित रहते हैं भगवान्‌के जीवनसे वे जीवित हैं। भगवान्‌के रखनेसे उनका अस्तित्व है ? भगवान् क्यों रखते हैं। अपने खेलके लिये–अपना काम करनेके लिये। यही गोपी–भाव है। शरणागतिमें मोहका नाश हो गया, कर्तव्यका अभिमान नष्ट हो गया, मैं आपके हाथका यन्त्र हूँ, मैं कुछ करने–करानेवाला नहीं, जो आप कहना चाहें वही मैं करनेवाला हूँ, इसलिये मैं आपकी शरणमें आया हूँ–ये बातें मुख्य रहती हैं।

मैंने मोहवश ही जो कुछ अन्यथा सोचो ,कहा। तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले– तुमनें बड़ा अच्छा किया। इतनी साधना की, जिससे तुम्हारे मोहका नाश हो गया। अर्जुनने कहा–ना–ना **'त्वत्प्रसादात्'**। प्रभो ! यह सब आपकी कृपाका ही फल है।

शरणागत कभी भी साधनका अभिमान नहीं करता, वह तो कहता है कि आपकी कृपासे यह मोह–नाश हुआ, आपके प्रसादसे मुझे स्मृति आयी। भगवान् बोले–हमारे प्रसादको समझा यह एक काम तो तुमने किया हैं। हमारी कृपाको माना। अर्जुनने उत्तर दिया–नहीं–नहीं महाराज, मैने नहीं माना, आपने मनवा दिया। कैसे ? यहाँपर संबोधन है अच्युत । आप अपने स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते, आप सुहृद् हैं। हम चाहें न चाहें आप गले पड़कर भला करते हैं। हम पीना न चाहें, आप गला पकड़कर अमृत पिलाते हैं। अच्युत है आपका स्वभाव, इसलिये यहाँ शरणागतमें यह अनुभूतिका यह अभिमान नहीं कि आपकी कृपाको अपनी बृद्धिसे, अपनी साधनासे प्राप्त कर सका। जो कृपामय हैं, उनकी कृपा तो सर्वत्र विकीर्ण हो रही, विस्तीर्ण हो रही है, वह कृपा स्वाभाविक है, उस स्वाभाविक कृपाने ही अपनी कृपासे–**'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'** अपनी अपार कृपासे, अकारण कृपासे मेरे मोहका नाश कर दिया। उसका प्रभाव क्या हुआ ? वही जो चीज होनी चाहिये– 'भटकना बंद हो जाय। जहाँ पहुँचना चाहिये, वहाँ पहुँच करके स्थिर हो जाय।' **'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः।'** जहाँतक संदेह रहता है, वहाँतक भटकना बंद नहीं होता। सारे संदेह मिट गये। स्थिरता आ गयी। अब पूछा क्या करोगो ? बस, एक ही शेष रह गयी है, अब तो **'करिष्यते वचनं तव।'**

पूरी अधीनता–भगवान्‌की पूर्ण शरणागति जब होती है, तब शरणागतको भगवान् अपना अन्तरतम खोल करके दिखाते हैं। अन्तरंग–प्रदेशको खोलकर दिखा देनेका नाम ही प्रेम है। अन्तरंगता बिना प्रेम नहीं होता और प्रेमके बिना असली ज्ञान नहीं होता। जबतक बाहरी ज्ञान है–ऊपरका ज्ञान है, तबतक अन्तरंगता नहीं है । किसीसे भी कोई प्रेम करे, उसकी भक्ति करे, उसको जाने । उतनी बात ही जान सकेंगे, जितनी बाहरसे प्रकट है। उसके मनमें क्या है, जीवनके गुप्त–से–गुप्त बात क्या है, सर्वगृह्यतम क्या है, यह बात तबतक हम नहीं जान सकते, जबतक हम उनकी अन्तरंगतामें प्रवेश न पा लें। उसके मनमें यह विश्वास

न हो जाय कि यह मेरा है।'**इष्टोऽस्मि**' में जबतक स्थित न हो जाय, तबतक अन्तरंग–रहस्य नहीं खुलता। रहस्य खोलते हैं रहस्यवाले ही। हम तो रहस्यकी कल्पना मात्र करते हैं। ऊँची–से–ऊँची कल्पान कर लेते हें। भगवान्‌के रहस्यका उद्‌घाटन हम नहीं कर सकते। यह तो उन्हींके द्वारा सम्भवा है जो स्वयं रहस्यमय हैं, लीलामय हैं–' **सोइ जानई जेहि देहु जनाई**' जिसपर कृपा हो जाती है, वही जानता है– दूसरा नहीं जान सकता। यहाँ भगवान्‌ने स्वयं जनाया।' '**ह्रद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' उसीकी शरणमें जाओं । '**तमवे शरणं गच्छ।**' फिर ऐसी बात कह दी जो बात परायेसे कही जाती है–

'ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतंर मया'

मैंने तुम्हें गुह्यसे गुह्यतर जो बात थी वह कह दी, मेरे द्वारा कही गयी। अब तुम सोच लो जो मनमें आये करो। अर्जुन रो उठा। ये शब्द नहीं हैं, पर ध्वनि है– अर्जुन व्याकुल हो गया– रो उठा। परंतु यह भी किया उसकी परिपक्वताके लिये। यदि व्याकुलता नहीं होती तो भगवान्‌के दूसरे शब्द इस प्रकारके नहीं निकलते जो अन्तरंगताको लिए हुए हैं। अर्जुन व्याकुल हो गया कि यह क्या कह दिया ! '**त्वां प्रपन्नम्**' कहकर मैंने पूछा और प्रभुने कहना शुरू किया तथा सब कहनेके बाद अब कहते हैं कि जँचे सो करो। बड़ी विकट बात हुई। पर जब रोने लगा, तब अविलम्ब भगवान्‌ने आँसू पोंछ दिये, गलेमें हाथ डाल दिया। गलबाँही डाल करके बोले–'भैया ! अरे तू मेरा बड़ा प्यारा है'– '**इष्टोऽसि मे**' तू मेरा बड़ा प्रिय है, भैया, तू रोता क्यों है ? '**सर्वगुह्यतमं भूयः**' अब तुमको फिरसे सारी जो गुह्यतम बात है खोलकर कहता हूँ। भगवान्‌का अन्तरंग खुल गया, अपनी तारीफ अपने मुँहसे की। '**परमं वचः**' कोई भी आदमी कहता है क्या कि मैं जो कहता हूँ वही सबसे ऊँची बात है। पर भगवान्‌ने कहा– सुनो '**परमं वचः**' मेरे श्रेष्ठ वचनोंको जो परम वचन हैं उन्हें सुनो–तुम्हींको सुनाता हूँ। क्योंकि '**इष्टोऽसि मे दृढमिति**' तुम मेरे प्यारे हो, सुहृद् हो तुम्हारा प्यार किसी हालतमें कम नहीं होता, किसी हालतमें घटता नहीं। जो प्रेम घटता, रूकता है वह प्रेम नहीं काम है। प्रेम घटता नहीं रुकता नहीं, मिटता नहीं। यह तो अनवरत लगातार प्रतिक्षण वर्धमान रहता है, यही प्रेमका स्वरूप है। इस प्रकार अर्जुनको ढाढस दे करके बड़े गद्‌गद स्वरसे निश्यचात्मक वाणीसे कहा–'मत चिन्ता करो, तेरी चिन्ता

मेरी चिन्ता है। तेरे पाप मेरे पाप। बस, तू सब कुछ छोड़ दे।' माँका स्नेह ऐसा होता है कि माँ स्वयं बच्चेकी चीजको सँभाले। वह तो सँभालता नहीं, वह तो केवल माँको जानता है। 'सर्वधमान् परित्यज्य' का अर्थ है– केवल माँको जाने। वह कहे हिलो तो हिलो, बैठो तो बैठो। भगवान्ने कहा– हम स्वयं ऐसा कर चुके हैं। जब गोपमाताएँ–बड़ी–बूढ़ी देवियाँ कहतीं– लाला उठाओ जूती, तब जूती उठा लाते। भागवतमें शब्द आता है भगवान्के लिये **'दारुयन्त्रवत्'** कठपुतलीकी तरह ये श्यमासुन्दर नाचते थे, उन वात्सलयमयी गोपियोंके इशारेपर भगवान् स्वयं स्वीकार करते हैं–हम भी कठपुतली बन जाते हैं, फिर यदि अर्जुन, तुम भी कठपुतली बन जाओ तो समझो कि तुम्हारा काम बन गया। 'यह कठपुतलीपन' जहाँ पूरा–पूरा इस प्रकारका बन जाता है, जहाँ प्रत्येक विचार,, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक लीला उस प्राणाराम, परमधन, परमश्रेष्ठ विचारके अनुसार उसको सुखदायिनी होने लगती है, वहाँ होता है– गोपीभाव और यह गोपीभाव जहाँ पराकाष्ठाको पहुँचा वहाँ प्रकट होता है, राधाभाव। राधाभावमें जहाँ समर्पणका पूर्ण क्रियात्मक अवतरण हो जाता है वह महाभाव है और महाभावके अन्तर्निहित रहता है मादन और मोहन–भाव। आवश्यकता है केवल यन्त्र बननेकी।

तुम हो यन्त्री मैं यन्त्र, काठकी पुतली मैं तुम सूत्रधार।
तुम करवाओ कहलाओ मुझे नचाओ निज इच्छानुसार।।

भगवान् श्रीकृष्णके चरण